वैदिक राष्ट्र-दर्शन

महामहोपाध्याय बाल शास्त्री हरदास

- जीव, जगत व जगदीश्वर के विचार को ही तत्त्वज्ञान विचार कहते हैं।
- भारतीय तत्त्वज्ञान ऋग्वेद-काल में ही सिद्धता प्राप्त कर चुका था।
- गीता के क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार और उपनिषदों के ब्रह्माण्ड विषयक विचार का मूल ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में है।
- भारतीय तत्त्वज्ञान जीवन का हेतु व ध्येय निश्चित करने की लालसा के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है।
- उस तात्त्विक ध्येय को प्रत्यक्ष जीवन में उतार कर उन तत्त्वों के अनुरूप जीता जागता आदर्श उपस्थित करना ही भारतीय तत्त्वज्ञान का वास्तविक प्रयोजन रहा है।
- इसीलिये भारतीय संस्कृति का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है—अनुभूतिवाद अर्थात् तत्त्वज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव। कोरे तत्त्वज्ञान को यहाँ कोई स्थान नहीं दिया गया।
- इस अनुभूतिवाद रूपी वीणा की झंकार ऋग्वेद के कोने कोने से हो रही है तथा उपनिषद, गीता, शंकराचार्य, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, रामकृष्ण परमहंस, अरविन्द आदि की वाणियां भी उसी झंकार से झंकृत हैं।
- वैदिक राष्ट्र की निर्मिति जिन मूल तत्त्वों के आधार पर हुई है, वे ही मूलतत्त्व भारतीय राष्ट्र की अस्मिता सिद्ध करते हैं।

मूल्य : भारत में 20.00 रुपये
विदेश में $4.00,£2.00

वैदिक राष्ट्र-दर्शन

खण्ड ३

वेदों का आध्यात्मिक अंतरंग

वैदिक राष्ट्र-दर्शन

खण्ड : ३

वेदों का आध्यात्मिक अंतरंग

लेखक

महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास

अनुवादक

कुप्पहल्ली सीतारामैया सुदर्शन

सुरुचि साहित्य

केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली-११००५५

प्रकाशक :
सुरुचि साहित्य
केशवकुंज, झण्डेवाला
नई दिल्ली-११००५५

प्रथम संस्करण : १९८२

मूल्य : १०/-

मुद्रक :
किरण मुद्रण केन्द्र, ए ३८/२ मायापुरी, नई दिल्ली।

Vedic Rashtra-Darshan Part III (Indology)
By Bal Shastri Hardas Rs. 10/-

दो शब्द

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पंडितः ।
वक्ता दशसहस्रेषु दाता भवति वा न वा ।।

संस्कृत के इस सुभाषित के अनुसार ही थे महामहोपाध्याय बालशास्त्रीजी। पांडित्य और वक्तृत्व हाथ में हाथ डालकर उनके पास थे। वक्तृत्व के बारे में उनकी बराबरी करने वाले कोई न थे। विषय कोई सा भी हो, वे अपनी एक विशिष्ट पद्धति से उसे विद्वानों से लेकर जनसाधारण तक समान रूप से रखने में समर्थ थे। सन् १९५० के अप्रैल महीने में पूना में शास्त्रीजी की 'वाल्मीकि रामायण' विषय पर व्याख्यानमाला हुई।। संयोजक थे 'काल' पत्र के संपादक श्री शं० रा० दाते। दातेजी ने शास्त्री जी के विचार ग्रंथबद्ध किये। तदनंतर प्रतिवर्ष नये नये विषय पर व्याख्यानमाला होती गयी और उसी के ग्रंथ भी बनते गये। ऐसे सत्रह वर्ष में सत्रह ग्रंथ बने। उसमें रामायण, महाभारत, भगवान् श्रीकृष्ण, वेदांतील राष्ट्रदर्शन (दो भाग), पुण्यश्लोक छत्रपति शिवाजी (चार भाग), डा० मुंजे (दो भाग), भारतीय स्वातन्त्र्यसमर, आर्य चाणक्य (दोभाग), आद्य शंकराचार्य (तीन भाग) ये विषय थे। इसमें से 'आर्य चाणक्य' का दूसरा भाग और 'शंकराचार्य' के तीनों भाग दुर्भाग्य से अभी तक प्रकाशित नहीं हो सके।

शास्त्रीजी के कुछ ग्रंथ भाषांतरित हुए हैं। 'भारतीय स्वातंत्र्य समर' का और 'वेदांतील राष्ट्रदर्शन' का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। 'भगवान् श्रीकृष्ण' का अंग्रेजी अनुवाद हुआ और वह प्रकाशित नहीं हुआ। भगवान श्रीकृष्ण का हिंदी अनुवाद भी हुआ है और वह भी प्रकाशित नहीं हुआ।

माननीय सुदर्शनजी ने 'वेदांतील राष्ट्रदर्शन' के पहिले खंड का हिंदी अनुवाद किया। उसे आज कम से कम चौदह-पन्द्रह वर्ष हो चुके हैं। शास्त्री जी के जीवनकाल में ही यह अनुवाद हुआ था और सुदर्शनजी ने उनको यह दिखाया भी था। इस हिन्दी अनुवाद का इतने वर्ष के बाद प्रकाशन हो रहा है, यह आधी सुख की और आधी दुख की बात है। मराठी में एक कहावत है, 'एक आंख में आंसू और एक आंख में हसू'। हसू या सुख इसलिए कि शास्त्रीजी के सभी ग्रंथ मराठी में हैं। इस अनुवाद के माध्यम से उनके विचारों का प्रसार हिन्दी भाषाभाषी लोगों में होने की सुबिधा हो गयी। किंतु यह देखने के लिए स्वयं शास्त्रीजी आज सदेह उपस्थित नहीं हैं, इसका

बड़ा दुख है। सुदर्शनजी तो इतने दुखित हुए थे कि मैंने दूसरे खंड का अनुवाद करने की उनसे बात की तो वे बोले, "भाभीजी, अब जी नहीं लगता"। सुदर्शनजी ने 'शिवाजी' के पहले खंड का भी हिंदी अनुवाद किया था। किंतु दुखित होने के कारण लगातार तीनों का अनुवाद न कर सके। भगवान के चरणों में मेरी प्रार्थना है कि 'वैदिक राष्ट्र-दर्शन' के अगले खंड के अनुवाद के लिए वे श्री सुदर्शनजी को शक्ति प्रदान करें।

'वैदिक राष्ट्र-दर्शन' के प्रथम तीन खंडों को प्रकाशित करने के लिए मैं सुरुचि साहित्य की अत्यन्त आभारी हूँ।

श्री दक्षिणामूर्ति मन्दिर
महाल, नागपुर-२

—वीणा हरदास

अनुक्रमणिका

१

वैदिकों का आध्यात्मिक अंतरंग

अब तक के विवेचन से यह बात ध्यान में आ गई होगी कि वेदों में हमें ऐसे समाज के दर्शन होते हैं जिसमें पाप-पुण्य, चारित्र्य, संस्कार आदि के संबंध में सिद्ध कल्पनाएं विद्यमान थीं। किन्तु किसी समाज में इस प्रकार की कल्पनाओं का होना तभी संभव होता है जब उसमें जीवन संबधी कुछ निश्चित धारणाएं विद्यमान हों, जैसे, भौतिक विश्व एवं इहलौकिक जीवन के परे भी एक अज्ञात एवं अनंत अस्तित्व है जिससे हमारा जीवन संबद्ध है तथा इस लोक में अपनी मृत्यु हो जाने से ही अपना वास्तविक अस्तित्व समाप्त नहीं होता, अपितु मृत्यु के पश्चात् भी वह किसी भिन्न रूप में विद्यमान रहता है। नीतिमूल्य, धार्मिक व सामाजिक दृष्टि से आदर्श माना जाने वाला आचार तथा पाप-पुण्य की कल्पनाएं बिना एक निश्चित आध्यात्मिक अधिष्ठान के नहीं रह सकतीं। वैदिक समाज में इन सब बातों को कितनी स्थिरता प्राप्त हो गई थी, इसका यदि हम विचार करें तो मन आश्चर्यचकित हो जाता है। उनकी स्थिरता का यथार्थ वर्णन चिरंतन, सनातन अथवा शाश्वत कहकर ही किया जा सकता है। वैदिक साहित्य में दृष्टिगोचर होने वाले उपनयन, विवाह व उनसे संबंधित आनुषंगिक संस्कारों का हमने गत दो अध्यायों में अनुशीलन किया है। इन संस्कारों के संबध में आज जो हिंदु धारणा विद्यमान है उसमें तथा वैदिक धारणा में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। भोजन के पूर्व लिये जाने वाले आचमन तथा भोजनोपरान्त लिये जाने वाले आचमन अथवा आपोष्णा सरीखी सादी सी बातों की परम्परा भी छान्दोग्योपनिषद् से लेकर आज तक अव्याहत रूप से चली आई हम देखते हैं। और इससे यह बात सहज ही सिद्ध होती है कि इन परम्पराओं के पीछे अवश्य ही एक परिपूर्ण तत्त्वज्ञान विद्यमान है जिसकी सुदृढ़ आधारशिला पर इन समस्त परम्पराओं को खड़ा किया गया है। किसी भी समाज में सदाचार कहकर मानी जाने वाली आचारपरम्परा में जीवन का तत्त्वज्ञान तथा सृष्टि की ओर देखने का एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण सूत्र रूप में विद्यमान रहता है। इस इहलौकिक जीवन के परे भी एक दूसरा जीवन है तथा उस जीवन के ऊपर हमारी इहलौकिक क्रियाओं का विशिष्ट प्रकार का परिणाम होता है, इसकी सुनिश्चित जानकारी के बिना

ही वैदिकों का संस्कारशास्त्र उत्पन्न नहीं हुआ है। अतएव यह आवश्यक है कि ऋग्वेद एवं इतर संहिताओं के वचनों के आधार पर भारतीय संस्कृति की विकसनावस्था के उन प्रमेयों का हम अवलोकन करें जिससे वैदिकों की आध्यात्मिक धारणा क्या थी, यह हमारे सामने स्पष्ट हो जाय। किन्तु यहाँ पुन: एक बार हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि ऋग्वेद एवं इतर वेद संहिताएं केवल संग्रह-ग्रंथ ही हैं।

मैं कौन हूँ

मनुष्य का जब सृष्टि से संबंध आता है तब बुद्धिमान होने के कारण वह विचार करने लगता है कि यह सृष्टि क्या है, मैं कौन हूँ तथा मेरा सृष्टि से क्या संबंध है? और उस समय जो विचारों का मंथन चलता है उससे ही तत्त्वज्ञान की सृष्टि होती है। मनुष्य के जीवन का क्या लक्ष्य है तथा इस जीवन में उसे क्या प्राप्त करना है? ये प्रश्न अनादि काल से ही मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते रहे हैं। और इन प्रश्नों का वास्तविक उत्तर तभी मिल सकता है जब हम इस बात का विचार करें कि मनुष्य कौन है तथा उसके जीवन का स्वरूप क्या है? मनुष्य में स्वाभाविक रूप से जो बुद्धिशक्ति विद्यमान है, उसके कारण जहाँ उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार क्या है, वहाँ यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि 'मैं कौन हूँ ?' किन्तु जन्म के पश्चात् इन्द्रियों के द्वारा जिस जगत् से हमारा संबंध आता है उसके तथा हमारे संबंध के स्वरूप का यदि हम विचार करें तो विश्व क्या है ?' इस प्रश्न की अपेक्षा 'मैं कौन हूँ ?' यही प्रश्न अधिक महत्व का सिद्ध होता है। विश्व तथा उसमें प्राप्त होने वाली समस्त वस्तुएं उपभोग्य तथा हम स्वयं उनके उपभोक्ता, यह तो हम सबके अनुभव में आने वाली बात है। इनमें भी उपभोक्ता चेतन है तथा उपभोग्य वस्तुएं जड़। जड़ का प्रवाह चेतन के लाभ के लिए है तथा चेतन उससे अपने आपको विविध प्रकार से लाभान्वित करता है। लाभान्वित होने वाला चेतन स्वयं 'मैं' ही होने के कारण इस 'मैं' से ही विचार का वास्तविक आरंभ होता है। और इसीलिए भारतीयों ने इस 'मैं' को अथवा अस्मिता को ही जगत् के यच्चयावत् समस्त विचारों, क्रियाओं तथा आन्दोलनों का आरंभबिदु माना है। संपूर्ण विश्व के समस्त गुणवैशिष्ट्यों का अल्प प्रमाण में ही क्यों न हो, मनुष्य के शरीर में अंतर्भाव हुआ है और इस कारण मनुष्य का शरीर एक प्रकार से विश्व का प्रतिनिधि है। इसलिए विश्वविचार में सर्वप्रथम स्थान मनुष्य के शरीर का है और इस सजीव मनुष्य शरीर का विचार करते समय जो सिद्धान्त प्रगट होते हैं उन्हीं का उपयोग भारतीय तत्त्वज्ञ विश्व का स्पष्टीकरण करने के लिए करते आए हैं। मनुष्य शरीर के इस विचार को पिंड

विचार कहते हैं और जो जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है, यह तो सर्वश्रुत है ही।

मनुष्य शरीर का विचार मन में आते ही सर्वप्रथम जो बात सामने आती है वह यह है कि मनुष्य शरीर एक यंत्र है और उसमें आजकल के कारखानों के समान विविध प्रकार के कार्य चले हुए हैं। इस शरीर रूपी यंत्र में जगत् के बाह्य पदार्थों को पहचानने के निमित्त कुछ साधन विद्यमान हैं, जिन्हें हम ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। ये पाँच प्रकार की होती हैं जिनसे हमको जगत् की शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधात्मक प्रतीति होती है। यह प्रतीति ही हमारा जगत् संबंधी ज्ञान है। इनके अतिरिक्त शरीर का व्यवहार व व्यापार चलाने के लिए पाँच साधन देह में विद्यमान रहते हैं जिन्हें हम कर्मेंद्रियों के नाम से पुकारते हैं। नाक, कान, आँख, जीभ व त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा हाथ, पैर, वाणी, गुदा व उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ। इन इन्द्रियों के समुदाय को इन्द्रियसंघात कहते हैं। कर्मेन्द्रियाँ केवल शरीर के व्यवहारों को चलाती हैं तथा ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने विषय के संस्कारों को ग्रहण करती हैं। किन्तु इन संस्कारों का एकत्रीकरण कर उन्हें व्यवस्थाबद्ध करने का काम किसी दूसरे को करना पड़ता है। बिना उसके किसी संस्कार का कोई उपयोग नहीं। ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से होने वाले संस्कारों का एकीकरण कर उन्हें व्यवस्थाबद्ध करना तथा अच्छे-बुरे का निर्णय कर ग्राह्याग्राह्य निश्चित करना, ये दो कार्य जिस इन्द्रिय की सहायता से होते हैं उसे ही हम अन्तःकरण कहते हैं तथा उसके पहले काम को मन व दूसरे व्यवहार को बुद्धि की संज्ञा देते हैं। एक ही अंतःकरण के कार्यानुरूप किए गए ये दो भाग हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन व बुद्धि के अतिरिक्त और भी एक बात शरीर में रहती है। वह याने स्पन्दन अथवा जीवनसूचक व्यवहार। यही है प्राणशक्ति। प्राणशक्ति की क्रिया अथवा हलचल यदि न हो, तो बाकी बातों का रहना न रहना सब बराबर है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी को चेतना कहा है। यह हमारे शरीर की अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति है। इस चेतना के अतिरिक्त शरीर में कार्य करने वाली एक और प्रवृत्ति रहती है जो हमको अपने स्वतः के अस्तित्व की जानकारी देती है तथा अमुक वस्तु मेरी व अमुक दूसरे की यह भेद उत्पन्न करती है। इसी को अहंकार कहते हैं। इस सम्पूर्ण शरीर के भिन्न-भिन्न पदार्थों का जो घटकद्रव्य है, उसे प्रकृति कहते हैं। ये सारे तत्त्व जिस शक्ति के कारण अपने अपने स्थान में स्थिर होकर कार्य करते हैं, उस शक्ति को धृति कहते हैं। पिंड का विचार करते समय इतनी सारी बातें सहज ही किसी के भी ध्यान में आ सकती हैं।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार

उपनिषदों के काल के अनन्तर उत्पन्न होने वाली श्रीमद्भगवद्गीता ने, जिसे भारतीय तत्त्वज्ञान का श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट ग्रंथ कहकर जगत् ने शिरोधार्य

किया है, इन समस्त विशेषताओं से युक्त पिंड अथवा मानवी शरीर को 'क्षेत्र' संज्ञा प्रदान की है। भगवद्गीता में कहा है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः ।।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातः चेतना धृतिः ।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।।

—श्रीमद्भगवद्गीता अ० १३ श्लो० ५ व ६

"हे कौन्तेय, इस शरीर को ही क्षेत्र कहते हैं। पृथ्वी, आप्, तेज, वायु व आकाश—ये पंचमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति (अव्यक्त), दस इन्द्रियाँ, अन्तःकरण (मन), पाँच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध—ये पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना एवं धृति—इन इकतीस तत्वों के समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।" केवल क्षेत्र का विचार एकांगी विचार है। आज के भौतिक शास्त्रज्ञों ने केवल इस एकांगी विचार पर ही सारा जोर दिया तथा उनसे स्फूर्तिग्रहण करने वाले जड़वादियों ने आगे विचार न करने की दृष्टि से अपनी आँखों पर मोटी पट्टी चढ़ा रखी थी। किन्तु अब उस पट्टी को हटाने का विचार प्रभावी होता जा रहा है। इस क्षेत्र का पूर्ण निरीक्षण करने के उपरान्त एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस क्षेत्र या खेत का स्वामी कौन है ? कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ जिसके लिए अपने अपने कार्य करती हैं, मन जिसके लिए जोड़-तोड़ करता रहता है तथा जिसकी प्रेरकता से वह प्रेरणा देता है, बुद्धि जिसके सुख दुःख व इष्टानिष्टता के केन्द्र के चारों ओर अपने निश्चय का ताना-बाना बुनती है, जिसके लिए चेतना चालू है तथा जो इस संघात के ऊपर अहं-ममता का अभिमान रखता है, वह स्वामी कौन है ? क्योंकि केवल एक वही ऐसा है, जो चेतना अथवा ज्ञानशक्तियुक्त है तथा जिसकी इच्छाशक्ति के कारण ही जड़-पदार्थ के समस्त व्यापार चलते रहते हैं। यह कह देने मात्र से काम नहीं चलेगा कि ये सारे व्यापार करना इस स्थूल शरीर का तथा अवयवों के इस संघात का स्वभाव ही है ! क्योंकि देह के व्यापार किसी न किसी इच्छाशक्ति के नियन्त्रणानुसार ही होते हैं। उन व्यापारों के कारण उद्भूत होने वाले सुख-दुःख का अनुभव किसी न किसी को तो होता ही है। किसी प्रकार का इष्ट साधना या किसी प्रकार का अनिष्ट टालना इन व्यापारों का मूलभूत हेतु होता है, यह सब के अनुभव में आने वाली बात है। यही नहीं, हम तो यह भी देखते हैं कि मरणोपरान्त समस्त अवयवों का संघात विद्यमान रहते हुए भी किसी भी प्रकार का व्यापार नहीं होता। इन सारी बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सारे व्यापार करना स्थूल शरीर

अथवा अवयव संघातों का स्वभाव नहीं है, वरन् उनके मूल में इन सबसे भिन्न किसी-न-किसी इच्छा-शक्ति की प्रेरणा विद्यमान है। बड़े बूढ़े एक दृष्टान्त दिया करते हैं कि बाल्य, तारुण्य व वार्धक्य की अवस्थाओं में शरीर के बदलते रहने पर भी जो नहीं बदलता वही वास्तव में हमारा अपना आप है। अब तो इसे और भी अधिक शास्त्रीय दृष्टि से सिद्ध किया जा सकता है। आधुनिक शास्त्रानुसार अपने शरीर के समस्त घटकावयव नित्य प्रति कणशः पुराने होकर समाप्त हो जाते हैं तथा उनके स्थान पर कणशः नये उत्पन्न होते जाते हैं। शरीर का प्रत्येक कण इस प्रकार बदलता रहता है, किंतु इस परिवर्तनशील नानात्व में से एक अपरिवर्तनीय एकत्व की प्रतीति अखंड रूप से नित्य होती रहती है। इससे यह सहज सिद्ध होता है कि देह व अवयव-संघात केवल परिवर्तनीय नानात्व हैं, जिनका कोई एक अविकारी व अपरिवर्तनीय नियन्त्रक है। किन्तु यह नियन्त्रक प्राणशक्ति नहीं है यह स्पष्ट है, क्योंकि प्रगाढ़ निद्रा में प्राणशक्ति के श्वासोच्छ्वास, रुधिराभिसरण आदि समस्त व्यापार चालू रहने पर भी उस अवस्था में स्वयं को स्वयं का ज्ञान मात्र नहीं रहता। इस प्रकार जीवन के ये सारे व्यापार व व्यवहार जिसके अस्तित्व के बलबूते पर चालू रहते हैं व जिसके अस्तित्व के प्रत्यय से सारा जीवन मार्ग उद्भासित हो जाता है, उसके अस्तित्व को ही स्वीकार न करना निरा हठवाद है जिसमें कोई अर्थ नहीं। इन्द्रियों द्वारा यदि उसे जाना नहीं जा सकता या प्रयोगशाला में उसे पहचाना नहीं जा सकता तो उसका अर्थ केवल इतना ही है कि वे सब उसको होने वाले ज्ञान के साधन मात्र हैं और चूंकि ज्ञाता कभी भी ज्ञेय नहीं हो सकता, इस कारण इसकी प्रतीति के मार्ग उस मार्ग से निश्चित रूप से भिन्न हैं जिस मार्ग से हम ज्ञेय समझी जाने वाली वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसीलिए बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है—"**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**" (ज्ञाता स्वयं को कैसे जानेगा ?)। समस्त शरीर में अनुस्यूत रहने वाला जो आत्मतत्त्व है, उसे ही भगवद्गीता में क्षेत्रज्ञ कहा गया है। क्षेत्र के ज्ञान के साथ उसका ज्ञान भी परमावश्यक है। आधुनिक शास्त्रज्ञ भी यह बताने लगे हैं कि उसकी संकलपशक्ति से ही वस्तुतः क्षेत्र में उसकी आवश्यकतानुसार विविध पदार्थों का व्याप निर्मित होता रहता है। वुईल ड्यूरेंड अपने 'मेन्शन्स आफ फिलासफी' नामक ग्रंथ में कहता है—* "जीवात्मा की इच्छा-शक्ति ने ही शरीर की इन्द्रियों, स्नायुओं व दिमाग को उत्पन्न किया है। आज हम विचार करते हैं क्योंकि हमारे पास मस्तिष्क है। किन्तु यह मस्तिष्क तब उत्पन्न हुआ जब जीवात्मा ने विचार

*It was energy of living substance that specialised and moulded organs, nerves and brains; but, once life made the brain by trying to think. It is this desire which creates

करने का प्रयत्न किया। इस इच्छाशक्ति के द्वारा ही इन्द्रियों का एक के बाद एक आवश्यकतानुसार निर्माण हुआ तथा अंत में सारा शरीर ही संकल्प शक्ति के साँचे में ढल गया।'' तात्पर्य यह कि क्षेत्रज्ञ ने क्षेत्र में **यदृच्छया** प्रवेश नहीं किया अपितु क्षेत्रज्ञ की संकल्पशक्ति से ही क्षेत्र का निर्माण हुआ। इस कारण क्षेत्रज्ञ का महत्व कितना है यह सहज ध्यान में आ जाता है। अपने तत्त्वज्ञों के मतानुसार यह क्षेत्रज्ञ ही वास्तव में परब्रह्म है। परन्तु सद्यः इस आगे की बात का विचार न कर आध्यात्मिक अंतरंग के परिचय की प्रथम सीढ़ी के नाते केवल क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार का ही अवलोकन करें। श्री मद्भगवद्गीता का कथन है कि नित्य परिवर्तनशील क्षेत्र तथा अपने संकल्प से उस क्षेत्र का निर्माण करने वाले उस पिंड के अविकारी, अपरिवर्तनीय एवं अविनाशी तत्त्व या क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। गीताकार कहते हैं—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

—गीता अ० १३, श्लो० १ व २

"हे कौन्तेय, इस शरीर को ही क्षेत्र कहा गया है। इस शरीर को जो जानता है, उसे इस शास्त्र के ज्ञाता 'क्षेत्रज्ञ' नाम देते हैं। यच्चयावत् समग्र शरीर में क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ तथा क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।" श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय तत्त्वज्ञान का सर्वमान्य ग्रंथ है तथा इसमें दिग्दर्शित किये गये विचार उतनी ही स्पष्टता से जिस किसी प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होंगे, उस साहित्य के काल का विचार करते समय यही कहना पड़ेगा कि उस काल में ये विचार अवश्य ही पूर्णत्व को पहुँच गये थे। उपनिषद् साहित्य के मंथन से प्राप्त नवनीत ही श्रीमद्भगवद्गीता है, इस बात पर यदि हम ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि गीताकार ने कोई अपने स्वतः के विचार व्यक्त नहीं किये हैं—अपितु उपनिषदों के विचारों को ही संक्षेप में एकत्र उपस्थित कर दिया है। गीता का यह संपूर्ण क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विचार किस प्रकार एक मूलभूत विचार है तथा आधुनिक शास्त्रों की कसौटी पर वह किस प्रकार ठीक उतरता है, इसका हमने यहाँ थोड़े में विचार किया है। इसी का मैंने अपने श्रीकृष्णचरित्र के अंतिम भाग में विस्तारपूर्वक मंडन किया है। उपनिषद् भी वेदसाहित्य ही हैं तथा उनमें भी क्षेत्र याने देहादि

---

organ after organ and slowly moulds the body in the image of the will.

संघ व क्षेत्रज्ञ याने आत्मा या जीव के संबंध में संपूर्ण विचार किया हुआ हम पाते हैं। जीवात्मा की जिस संकल्प शक्ति का वुइल ड्युरेंड महाशय ने माहात्म्यवर्णन किया है, उसका छान्दोग्योपनिषद् में अतिशय मनोरम एवं काव्यमय वर्णन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा है—

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि, संकल्पात्मकानि, संकल्पे प्रतिष्ठितानि। समकल्पेतां द्यावापृथिवी, समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च। समकल्पन्तामापश्च······स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति।" (छा० ७.४.२)

(संकल्प सबका केन्द्रस्थान व जन्मस्थान है। जगत् की सब वस्तुएं संकल्पमय हैं तथा उस संकल्प में ही वे प्रतिष्ठित हैं। द्यावा पृथिवी, आकाश, वायु आदि सब संकल्पमय हैं। इसलिए संकल्प की उपासना करो।) इन वाक्यों में आत्मा एवं विश्वात्मा की इच्छाशक्तियों की एकात्मता अत्यंत उत्कृष्ट रीति से विशद की गई है। इसी प्रकार देहादि संघात में मानसिक शक्ति व चित्त की श्रेष्ठता उपनिषत्कारों ने इतनी ही उत्कृष्टता से प्रतिपादित की है। यही नहीं, संकल्प के उद्गमस्थान मन की भिन्न-भिन्न वृत्तियों का उन्होंने जो निर्देश किया है वह उनकी सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति का परिचायक है। इस दृष्टि से छांदोग्य, मैत्रायणी व ऐतरेय उपनिषद् के ये आगे के वाक्य देखने योग्य है—

चित्तं वाव संकल्पाद् भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयते······तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुः······अथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते। चित्तं ह्येवैषामेकायनं, चित्तमात्मा, चित्तं प्रतिष्ठा, चित्तमुपास्स्वेति। —छा० ७.५.१

मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति, कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा, धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव। —मै० ६.३०

सज्ञानं अज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिः धृतिः मतिः मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुः असुः कामः वशः इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। —ऐ० ३.२.

(संकल्प की अपेक्षा चित्त श्रेष्ठ है, क्योंकि चित्त में पहले विचार आने पर ही मनुष्य संकल्प कर सकता है। इस कारण चित्त इन सबका केन्द्रस्थान है। समस्त वस्तुएं चित्तमय हैं तथा चित्त के कारण ही वे जीवित रहती हैं। एक बहुविद् मनुष्य भी यदि विचार न करे तो लोग उसके बारे में यही कहेंगे कि उसे कुछ नहीं आता। यदि कोई मनुष्य विचार करने वाला हो तो उसके विचार सुनने की सभी को इच्छा होती है। चित्त सबका केन्द्रस्थान, सबका आत्मा व सबका आधार है। इसलिए इस चित्त की उपासना करनी

चाहिए। चित्त ब्रह्म है, ऐसा जो ध्यान करता है, वह चित्त के अधीनस्थ समस्त प्रदेश का अधिपति होता है।)

(मनुष्य मन से ही देखता और सुनता है। काम, संकल्प, विचार, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, संकोच, बुद्धि व भीति सब मन के ही रूप हैं।)

(संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, प्राण, जीवनाशा, काम व आत्मसंयम सब चित्त के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं।)

मानसिक अनुभव की भिन्न-भिन्न सीढ़ियों एवं भिन्न-भिन्न वृत्तियों के स्वरूप का यहाँ स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है। इस वेदान्तर्गत उपनिषद् के भाग में क्षेत्र की इन विविध प्रकार की शक्तियों के विचार के साथ साथ आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ का जो वर्णन किया गया है, वह तो भारतीय तत्वज्ञान का सारसर्वस्व ही है।

आत्मा

आज के मानसशास्त्र को भी यह प्रतिपादित करना पड़ा है कि हमें अपने आप में जिस अहंभाव की प्रतीति होती है वह देहावसान के पश्चात् भी जीवित रहती है और यदि किसी मनुष्य की उत्कट वासना इस जन्म में तृप्त न हुई तो वह केन्द्रीभूत अहंभाव के रूप में शरीर के नष्ट होने पर भी जीवित रहती है। आज के मानसशास्त्र की इस घुमावदार परिभाषा पर यदि हम ध्यान दें तो हम समझ सकते हैं कि घुमाव छोड़कर सीधे-सीधे आत्मा का प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों के द्रष्टाओं की प्रतिभा की दौड़ वास्तव में कितनी उचित थी। ऊपर कहे गये क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विषयक प्रश्न एवं उसके उत्तर का यथातथ्य चित्र उपनिषद् साहित्य में उपस्थित किया गया है। आत्मा का वर्णन करते हुए मैत्रायणी व कौशीतकी उपनिषदों में कहा है :—

अथ अपहतपाप्मानस्तिग्मतेजस ऊर्ध्वरेतसो वालाखिल्या इति श्रूयन्ते। अथ एते प्रजापतिमब्रुवन्। भगवन् शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं······प्रचोदयिता वा अस्य यद् भगवन् वेत्सि तदस्माकं ब्रूहीति। तान् होवाचेति। यो ह खलु एव शुद्धः······शान्तः······शाश्वतोऽजः स्वतंत्रः स्वे महिम्नि तिष्ठति अनेनेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितम्। प्रचोदयिता चैषोऽस्येति।

—मैं० २-३-४

तद्यथा क्षुरः क्षुरध्याने हितः, विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाय एवमेवैष प्राज्ञ आत्मेदं शरीरमनुप्रविष्ट आ लोमभ्य आ नखेभ्यः। तमेतमात्मानं एतं आत्मनोऽन्ववस्यति यथा श्रेष्ठिनं स्वास्तद्यथा श्रेष्ठः स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा श्रेष्ठिनं स्वा भुंजन्त, एवमेवैष प्राज्ञ आत्मा एतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैतं आत्मानं भुंजंति।

—कौ० ४-२०

(प्राचीन काल में वालखिल्य नाम के ऋषि थे। वे एक बार प्रजापति ऋतु के पास गये व उन्होंने उनसे एक प्रश्न किया कि हे भगवन् यह शरीर किसी गाड़ी के समान बिल्कुल अचेतन है। इसका चालक कौन है, यह यदि आपको ज्ञात हो तो कृपया बताने की कृपा करें। यह सुनकर वे बोले कि इस देहरथ का सारथी आत्मा है जो शुद्ध, शान्त, शाश्वत, अज व स्वतन्त्र है। उसकी महिमा अगाध है। उसके कारण यह शरीर चैतन्ययुक्त दिखाई देता है। वही इस रथ का प्रेरक है।)

(उस्तरे की पेटी में रखा हुआ उस्तरा जैसे उस पेटी को व्याप्त किये रहता है अथवा चूल्हे में रखी हुई अग्नि जैसे चूल्हे को व्याप्त किये रहती है उसी प्रकार आत्मा भी इस शरीर में प्रविष्ट होकर उसको नखशिख पर्यन्त व्याप्त कर लेता है। किसी धनी आदमी के सगे संबंधी जैसे उसके ऊपर अवलम्बित रहते हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ आत्मा के ऊपर अवलम्बित रहती हैं। श्रीमंत मनुष्य जिस प्रकार आप्तेष्टों के साथ बैठकर भोजन करता है व उसके आप्तेष्ट जिस प्रकार उसके अन्न पर आश्रित रहते हैं उसी प्रकार आत्मा समस्त इन्द्रियों सहित उपभोग करता है व ये इन्द्रियाँ आत्मा के आश्रय से जीवित रहती हैं।)

उपर्युक्त उपमा से यह सिद्ध होता है कि आत्मा समस्त शरीर में व्याप्त है। उपनिषदों में आत्मा को अणु से भी अणु एवं महत् से भी महत् कहा है तथा उसका वास हृदय में बताया है। आत्मा ही समस्त इन्द्रियों का स्वामी है, यह वर्णन तो उपनिषदों में स्थान स्थान पर मिलता है। उदाहरणार्थ उपनिषदों के निम्नलिखित वाक्यों को ही हम लें—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ —क० २.२.१२

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जंतोर्निहितो गुहायाम् । —क० ६.२.२०

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा, एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः । —छा० ३.१४.३

ग्रीक तत्वज्ञों में अरिस्टाटल ने हमारे प्राचीन उपनिषत्कारों के अनुसार ही यह कहा है कि आत्मा का निवास हृदय में है। इसके लिए वह जो कारण देता है वे इस प्रकार हैं—(१) हृदय का कोई रोग होने पर मनुष्य निश्चित रूप से तुरन्त मरता है। (२) भय, शोक, आनंद आदि विकारों के कारण हृदय में तत्क्षण खलबली मचती है व (३) गर्भाशय में शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा हृदय ही सबसे पहले तैयार होता है। इस आधार

पर अनेक ने उपनिषदों व अरिस्टाटल के मतों में साम्य दिखलाने का प्रयत्न किया है। परन्तु यह उचित नहीं है। आत्मा का निवास हृदय में बतलाने के लिए अरिस्टाटल ने जो कारण दिये हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि वह कलेजे को ही हृदय मानता है। किन्तु उपनिषत्कार हृदय का प्रयोग मस्तिष्क के पास की जगह के लिए करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में हृदय में स्थित आत्मा को मनोमय पुरुष कहा गया है तथा मस्तिष्क में रहने वाले ब्रह्म को मनस्पति की संज्ञा दी गई है। इससे यह स्पष्ट है कि अरिस्टाटल एवं उपनिषत्कारों के मतों में जो साम्य माना जाता है वह ठीक नहीं है। अर्वाचीन विचारों के अनुसार भी समस्त ज्ञानशक्तियों का केन्द्रस्थान मस्तिष्क ही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों का विचार कितना सूक्ष्म है व उसकी तुलना में अरिस्टाटल का मत कितना स्थूल। यह तो उपनिषदों में बारम्बार कहा गया है कि क्षेत्रज्ञ का पुनर्जन्म होता है। यह पुनर्जन्म प्रत्येक जीवात्मा को उसके कर्मानुसार प्राप्त होता है। कर्मानुसार ही आत्मा को यह स्थूल देह भी प्राप्त होता है व कर्मानुरूप ही इसके पतन, कुछ काल के परलोकवास व पुनः ऊँची या नीची देह प्राप्त होने का क्रम अव्याहत चलता रहता है और इसी को संसार कहते हैं। उपनिषदों ने इस कल्पना का बड़ी उत्कृष्ट रीति से मंडन किया है—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किं स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥

—क० १.१. ५-६

तद्यथा राजानमायांतमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पंतेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्प्यंत इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति। तद्यथा राजानं प्रयियासंतमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमंतकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति।

—बृ० ४.३.३७-३८

स यत्रायमात्माऽऽबल्यं न्येत्यसंमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायंति, स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामिति, स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति। एकीभवति न पश्यतीत्याहुः······ एकीभवति न विजानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः, तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति तं विद्या-कर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।

—बृ० ४.४. १-२

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यांतं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येव-मेवायमात्मा इदं शरीरं निहत्य·····अन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति। तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एव-मेवायमात्मा इदं शरीरं निहत्य अविद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं रूपं कुरुते, पित्र्यं वा गांधर्वं वा दैवं वा ब्राह्मं वान्येषां वा भूतानाम्। स वा अयमात्मा····· यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्मं कुरुते तदभिसं-पद्यते। —बृ० ४.४.३-५

"यह जो कुछ मेरे भाग्य में आया है वह असामान्य नहीं है। यद्यपि मैं अनेक लोगों के पूर्व ही परलोक जा रहा हूँ तथापि मेरे साथ भी अनेक लोग चल रहे हैं। यम मेरा क्या करेगा ? पहले ही पहुँचे हुए अपने पूर्वजों तथा उनके बाद जन्मी हुई उनकी प्रजा को देखने से यही दिखाई देता है कि मनुष्य बूढ़ा होकर घास के समान मृत्युमुख में चला जाता है तथा घास के समान ही पुनः जन्म ग्रहण करता है।"

"किसी राजा के आगमन के अवसर पर जिस प्रकार उसके भिन्न भिन्न विभागों के सेवक व नगराधिकारी 'राजा आया' 'राजा आया' कहकर उसका बड़प्पन करते हैं तथा अन्न-पानी आदि से उसका सत्कार करते हैं, उसी प्रकार आत्मा का जब जन्म होता है उस समय ये समस्त भूत 'ब्रह्म आया' 'ब्रह्म आया' कहकर उसकी सब प्रकार से उत्तम व्यवस्था करते हैं। और जिस प्रकार राजा के प्रस्थान के समय पुनः एक बार समस्त अधिकारी उसके चारों ओर एकत्रित होते हैं, उसी प्रकार मृत्यु का समय आने पर समस्त प्राण आत्मा के चारों ओर जमा हो जाते हैं।"

"मृत्यु के समय जब समस्त प्राण आत्मा के चारों ओर जमा होते हैं, तब आत्मा समग्र शरीर के तेज को एकत्रित कर हृदय में जाकर बैठ जाता है। आखों से पुरुष निकल जाता है, इसलिए उसे कोई वस्तु दिखाई नहीं देती। लोग कहते हैं कि वह स्वकेन्द्रस्थ हो गया है और उसका सारा लक्ष्य अपने स्वतः की ओर लग जाने के कारण उसे दिखाई नहीं देता। वह अपने आप से एकरूप हो जाता है, इस कारण न वह बोल पाता है, न सुन पाता है और न ही कुछ विचार कर पाता है। इसके पश्चात् उस हृदय का छोर तेज से प्रदीप्त हो जाता है और उस प्रकाश की सहायता से नेत्र, मस्तक अथवा अन्य किसी अवयव के द्वार से आत्मा बाहर निकल जाता है। आत्मा के चले जाने पर उसके पीछे पीछे प्राण भी चला जाता है। और प्राण के चले जाने पर उसके अनुगत अन्य समस्त प्राण भी चले जाते हैं। उसका ज्ञान, उसके कर्म एवं उसकी पूर्वस्मृति सब उसके साथ ही चले जाते हैं।"

"और जिस प्रकार एक इल्ली किसी घास के पत्ते के छोर पर आ जाने के पश्चात् पहले कोई दूसरा आश्रयस्थल देखकर तत्पश्चात् वहाँ जाती है, उसी प्रकार यह आत्मा भी इस देह का अन्त आ जाने पर पहले दूसरा देह देखकर फिर वहाँ जाता है। अथवा कोई सुनार ज्यों किसी सोने के टुकड़े को लेकर उसे अधिक अभिनव व सुन्दर रूप प्रदान करता है, त्यों यह आत्मा भी अज्ञान का नाश करने के पश्चात् इस देह को छोड़कर दूसरा अधिक नवीन एवं मनोहर रूप धारण करता है। वह रूप फिर पितर्, गंधर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य किसी भी भूतमात्र का हो सकता है। अच्छे कर्म करने वाला साधु होता है तथा पापकर्म करने वाला पापी। इस प्रकार अपने कर्मानुसार ही वह पुण्यवान् अथवा पापी होता है। इसीलिए कहा जाता है कि यह पुरुष नित्य है। जिसकी जैसी इच्छा होती है उसका वैसा निश्चय होता है तथा निश्चयानुरूप कर्म व कर्मानुसार फल की प्राप्ति होती है।"

लोक-परलोक

उपनिषदों में कर्मानुसार प्राप्त होने वाली गति का स्पष्ट रूप से विवेचन किया गया है। स्वर्ग व नर्क अथवा दिव्यलोक व अधोलोक, दोनों का ही वहाँ वर्णन है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित उपनिषदों के वाक्यों को देखें—

अनंदा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छंत्यविद्वांसोऽबुधो जनाः।।

—बृ० ४.४.११

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छंति ये के चात्महनो जनाः।।

—ई० ३

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।।

—ई० ९, व बृ० ४.४.१०

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्।।

—क० १.१.३

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रेति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं स तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लंबरस्य खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन ऊर्ध्वं आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः।।

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च न अर्चिषमेवाभिसंभवन्ति, अर्चिषोरहः, अन्ह आपूर्यमाणपक्षं, आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङ्ति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यं, आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते। —छां० ४.१५.५-६

ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति······एतद्वै स्वर्गस्य द्वारं यच्चंद्रमाः तं यत्प्रत्याह तमतिसृजते य एनं प्रत्याह तमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति, स इह कीटो वा पतंगो वा मत्स्यो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा परश्वान् वा पुरुषो वाऽन्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम्। —कौ० १-२

"मूर्ख व अज्ञानी लोग मरण के पश्चात् आनन्दहीन एवं अंधतमस से भरे हुए लोक में जाते हैं।"

"आत्मघातक लोगों को मरण के अनंतर आसुरी व अंधतमस से परिपूर्ण लोक में जाना पड़ता है।"

"अविद्या की उपासना करने वाले अंधतमस में प्रवेश करते हैं।"

"घास खाकर पानी पी चुकी हुई तथा दुही हुई गाय को अथवा बांझ गाय को जो दान में देता है वह आनन्द से रहित लोक में जाता है।"

"इहलोक को छोड़कर जाते समय मनुष्य सर्वप्रथम वायुलोक में जाता है। वहाँ वायु आकाश में रथचक्र के बराबर एक छिद्र बना देता है जिसमें से होकर वह ऊपर सूर्यलोक में जाता है। यहाँ सूर्य आकाश में पेन्डुलम जितना एक छिद्र बनाकर उसके लिए मार्ग बना देता है जिसमें से वह चन्द्रलोक में जाता है। वहाँ पर चंद्र उसके लिए आकाश में दुंदुभी के बराबर एक छिद्र बनाता है। उसमें से होकर वह ऊपर जाता है और शोक व हिमरहित लोक में पहुँचता है जहाँ वह सदा के लिए रहने लगता है।"

"अरण्य में रहकर श्रद्धायुक्त अंतःकरण से जो तपश्चर्या करते हैं उनकी आत्मा निश्चितरूपेण ज्योतिर्मार्ग से सदैव ऊँची चढ़ती जाती है, भले ही वे लोग उनका औध्र्वदेहिक कर्म करें या न करें। वह सर्वप्रथम ज्योति से दिवस की ओर, दिवस से शुक्लपक्ष की ओर, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के छः मासों की ओर, छः मासों से अयन की ओर, अयन से सूर्य की ओर, सूर्य से चंद्र की ओर और चंद्र से विद्युत् की ओर जाती है। वहाँ से एक दैवी पुरुष उसे ब्रह्म के पास ले जाता है। इस मार्ग को देवयान या ब्रह्ममार्ग कहते हैं। इस मार्ग से जाने वाले जन्म मरण के चक्कर में कभी नहीं फँसते।"

"इस लोक से जाने वाला चंद्र के पास ही जाता है क्योंकि चंद्रमा ही स्वर्ग का द्वार है। तदनंतर वापस लौटते समय वह वृष्टि के सहारे नीचे आता है तथा अपनी विद्या व कर्म के अनुसार कीट, पतंग, मत्स्य, बाघ, सिंह, पुरुष आदि योनियों में जन्म लेता है।"

उपनिषदों के प्रतिपादनानुसार शरीरी अथवा शरीर में अनुलक्षित होने वाली आत्मा अमर है तथा उसके स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है; और यही मनुष्य के जीवन का परम साध्य अथवा परम पुरुषार्थ है। इस संबंध में उपनिषदों के चार प्रसिद्ध महावाक्य तथा वही अर्थ प्रगट करने वाले कुछ अन्य वाक्य मनन करने योग्य हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।

—बृ० २.४-५

य आत्माऽपहतपाप्मा सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।

—छां० ८.७.१

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

—छां० ८.१.२१

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेषु अवस्थितं।
महान्तं विभुमात्माज्ञं मत्वा धीरो न शोचति। —का० १.२.२१

अप्राणोऽह्यमनाः शुभ्राः।

—मुं० २.१.२

असंगो ह्ययं पुरुषः।

—बृ० ३.४.१५

"आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए। आत्मा सब प्रकार के कर्म-दोषों से (यहाँ पुण्य व पाप दोनों को ही पाप माना गया है इसलिए सामान्य शब्द कर्मदोष का प्रयोग किया है।) अलिप्त है। उसी को ढूंढ़ना चाहिए एवं उसका अनुभव करना चाहिए। जब तक यह भावना विद्यमान रहती है कि मैं शरीरी हूँ तब तक प्रिय अथवा अप्रिय का स्पर्श भी नहीं होता। अशरीरत्व याने शरीर न रहते हुए भी अस्तित्वमान रहना। आत्मा का अस्तित्व इसी तरह शरीर निरपेक्ष है जो शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। इस प्रकार यह आत्मा अमर है एवं महान् व व्यापक है, और जब पुरुष की यह पक्की धारणा हो जाती है कि वह आत्मा मैं ही हूँ तो वह सच्चा धैर्यशाली बन जाता है और कभी भी शोक नहीं करता। आत्मा प्राण व मन के परे है, शुद्ध है। यह पुरुष असंग है।"

इस प्रकार उपनिषदों में क्षेत्रज्ञ का जो वर्णन प्राप्त होता है उससे यह स्पष्ट है कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ संबंधी विचार, अथवा यदि वेदान्त की भाषा में कहा जाय तो 'त्वंपदा' संबंधी विचार उपनिषद् काल में ही पूर्णावस्था प्राप्त कर

चुके थे तथा वहीं से वे सर्वत्र फैले। इतने वाक्य समूह देखने के पश्चात् अब यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि गीता, ब्रह्मसूत्र व इनके बाद का साहित्य उपनिषदों के इन्हीं सिद्धान्तों के अनुवाद मात्र हैं। परन्तु ये विचार या सिद्धांत तो उन उपनिषदों में हैं जिन्हें आजकल के अन्वेषक वेदों की अपेक्षा अर्वाचीन मानते हैं। उनका मत है कि वैदिक काल के वन्य देवतावाद व भोगनिष्ठा की उपनिषद् काल में त्याग, निष्ठा एवं श्रेष्ठ आध्यात्मिक ज्ञान में परिणति हुई। और इस दृष्टि से उनके समाधानार्थ प्रत्यक्ष वेदों का अवलोकन करना आवश्यक है। यह सोचकर यदि हम वेदसाहित्य का अनुशीलन करें तो प्राचीन माने जाने वाले ऋग्वेद में भी यह क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार हमें पूर्णावस्था को प्राप्त हुआ दिखाई देगा। आत्मा को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण वह संसार सागर में गोते लगाता रहता है, यदि उसे यह ज्ञान हो जाय तो "**आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्।**" "**अंधं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते**" "कौन किसके लिए दुःख करेगा ? जो अज्ञान में रहते हैं वे संसार के अंधतम में रहते हैं।" उपनिषदों की यह कल्पना भी ऋग्वेद में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त की गई है। किन्तु कोई ध्यान दे तब न ?

ऋग्वेद का प्रेतसूक्त

ऋग्वेद में कुल सोलह आध्यात्मिक सूक्त हैं तथा अन्य प्रार्थना सूक्तों में भी ये सिद्धान्त सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। ऋग्वेद के प्रेतसूक्त के मंत्रों में अग्नि की प्रार्थना की गई है जिसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह शरीर पञ्च भौतिक है व आत्मा उससे भिन्न है, उसे अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न गतियाँ प्राप्त होती हैं, शरीर अवयव ही भूततत्व में विलीन होता है किन्तु आत्मा अजन्मा होने के कारण उसकी मृत्यु नहीं होती। ऋग्वेदीय ऋषि कहते हैं—

मा एनं अग्ने वि दहः मा अभि शोचः मा अस्य त्वचं चिक्षिपः
मा शरीरम्।
यदा शृतम् कृणवः जातऽवेदः अथ ईं एनम् हिणुतात् पितृभ्यः ॥१॥

शृतं यदा करसि जातऽवेदः अथ ईं एनं परि दत्तात् पितृऽभ्यः।
यदा गच्छति असुऽनीतिं एतां अथ देवानीः वशऽनीः भवाति ॥२॥

सूर्यं चक्षुः गच्छतु वातम् आत्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपः वा गच्छ यदि तत्र ते हितं ओषधीषु प्रति तिष्ठ शरीरैः ॥३॥

अजः भागः तपसा तं तपस्व तं ते शोचिः तपतु तं ते अर्चिः।
याः ते शिवाः तन्वः जातऽवेदः ताभिः वह एनम् सुऽकृतां ऊं
(इति) लोकम् ॥४॥

अव सृज पुनः अग्ने पितृऽभ्यः यः ते आऽहुतः चरति स्वधाभिः ।
आयुः वसानः उप वेतु शेषः सं गच्छतां तन्वा जातऽवेदः ।।५।।

—ऋग्वेद मं० १० सू० १६

हे अग्निदेव, हमारे इस मृत हुए आप्त को चाहे जैसे मत जलाना। ऐसा भी मत करना कि इसे शोक होवे। इसकी चमड़ी को फाड़कर इतस्ततः मत फेंक देना। शरीर को भी कहीं गलत जगह में न फेंक देना। हे सर्वज्ञ, इसे व्यवस्थित रीति से दग्ध करने के पश्चात् पितरों के पास ले जाना ।।१।।

हे सर्वज्ञ अग्निदेव, इसे व्यवस्थित रीति से दग्ध करने के पश्चात् पितरों के पास ले जाना क्योंकि उसे जब आत्मबल की योग्यता प्राप्त होगी तभी वह दिव्य विभूतियों को वश में कर सकेगा ।।२।।

हे मृतक जीव, तेरे नेत्र सूर्य में जाकर मिलें। तेरे प्राण वायु में मिल जाएं। अपने धर्मकर्मानुरूप तू आकाश में गमन कर। पृथिवी में गमन कर। उदक में गमन कर अथवा यदि तेरी इच्छा हो तो नूतन शरीर सहित तू वनस्पति में ही वास्तव्य कर ।।३।।

हे जातवेद, इसका जो भाग अज (जन्मरहित) है उसे आप अपनी तप की ज्वालाओं से तप्त करें। उसी प्रकार आपकी शोचिर्ज्वाला व अर्चिज्वाला भी इसे तप्त करे। अपने सुखद तनु के सहारे आप इसे सुकृतिजनों के लोक में ले जाएं ।।४।।

हे अग्निदेव, जिस मृतमनुष्य की हमने आपमें आहुति दी है तथा जो आपके स्वाभाविक सामर्थ्य से संचार करने लगा है, उसे आप यहाँ से हटा कर पितरों के पास पहुँचा दें। वह अब नूतन आयुष्य का वस्त्र धारण करे। उसकी जो इच्छाएं शेष रही हों वे भी पूरी होवें। हे सकलवस्तुज्ञ देव, उसे दिव्य शरीर की प्राप्ति होवे ।।५।।

इस सूक्त में जो **'अजो भागः'** शब्दसमूह आया है वह क्या यही नहीं दर्शाता कि ऋषियों को इस बात की परिपूर्ण कल्पना थी कि जीव जन्मता नहीं है और इसीलिए आत्मा अमर है। उसी प्रकार **'सूर्य चक्षुर्गच्छतु'** आदि उल्लेखों से यह स्पष्ट दिखता है कि उन्हें इस बात का ज्ञान था कि पाँच-भौतिक शरीर के अलग-अलग भाग अपने अपने महाभूत में विलीन हो जाते हैं। वैसे ही **'गच्छ धर्मणा'** सरीखे स्पष्ट उल्लेखों के द्वारा क्या यह स्पष्ट सिद्ध नहीं होता कि कर्मतत्व का यह सिद्धान्त, कि संसरण कर्मानुसार होता है, उन्हें संपूर्ण रूप से अवगत था ? अमर जीवात्मा जड़ देह के आश्रय से रहता है, वह अमर होने पर भी मर्त्यदेह के कारण उसके गुणधर्म उसके साथ चिपक जाते हैं। यह बात आगे दी हुई ऋचा से और स्पष्ट होती है।

अनत् शये तुरगातु जीवम् एजत् ध्रुवं मध्ये आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सप्रोनिः ।।३०।।
अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतः अमर्त्यो मर्त्येन सयोनिः ।
ता शश्वंता विषूचीना वियंता नि अन्यं चिक्युर्ननि चिक्युरन्यम् ।।३८।।
—ऋ० १-१६४

"श्वासोच्छ्वास करने वाली, चंचल, सचेतन तथा हलचल करने वाली जो वस्तु है वह इस देह-रूपी भवन में दृढ़ता से रही है। यह जीवात्मा मृत अर्थात् जड़ पदार्थों के नियमानुरोध से चलती है। मृत देह तथा अमर आत्मा एक ही स्थान पर रहते हैं। इस आत्मा का अस्तित्व देह के व्यापार के कारण ही ज्ञात होता है। वह अमर होकर भी मर्त्य देह के साथ जन्म लेती है। वे दोनों नित्य संलग्न होकर सब स्थानों पर नाना प्रकार से जाते हैं। किन्तु लोगों को शरीर मात्र दिखता है, आत्मा नहीं दिखती।"

पुनर्जन्म और वेद

इस प्रकार ऋग्वेद में कर्मतत्व, जड़ाजड़ संयोग, आत्मा का अमरत्व व परलोक का स्पष्ट वर्णन हमें देखने को मिलता है। किंतु डॉ० केतकर सरीखे कुछ विद्वानों की धारणा है कि पुनर्जन्म की कल्पना ऋग्वेद में नहीं है। डॉ० केतकर कहते हैं—"आत्मा का पुनर्जन्म होता है तथा इस पुनर्जन्म परम्परा का कोई अंत नहीं। इस कल्पना का बाद के शतकों के लोगों पर अत्यंत प्रभाव पड़ा है तथा उनके समस्त तत्वज्ञान में यह कल्पना रूढ़ हो बैठी है। किन्तु ऋग्वेद में इस कल्पना का लेश भी नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद सूक्त के विचारों एवं कल्पनाओं की दिशा तदुत्तरकालीन साहित्य के विचारों एवं कल्पनाओं की दिशा से बिल्कुल भिन्न थी।" (ज्ञानकोश भाग दो, पृ० ३०) किन्तु डॉ० केतकर का यह कथन पूर्णरूप से असत्य है, यह ऋग्वेद के ही उद्धरणों द्वारा स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४ वें सूक्त की ओर यदि हम बारीकी से देखें तो डॉ० केतकर के इस विधान की तथ्यहीनता स्पष्ट हो जायेगी। इस १६४ वें सूक्त में संपूर्णरूप से आत्माविषयक विचार ही स्पष्टता से मंडित किया गया है। किंतु उसका उल्लेख करने के पूर्व केवल पुनर्जन्म के प्रश्न का ही ऊहापोह करने की दृष्टि से विख्यात तत्वज्ञ प्राध्यापक रानडे के उस अत्यंत समीचीन उत्तर का यहाँ उल्लेख करूँगा जो उन्होंने अपने विख्यात ग्रंथ "ए कन्स्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी" में इस प्रकार के समस्त आक्षेपकों को दिया है। प्रा० रानडे कहते हैं—"ऋग्वेदीय ऋषि जगत् को चिन्मय मानकर ही रुके नहीं। ऋग्वेद में एक अत्यंत महत्व का स्तोत्र है जिसकी ओर तज्ञों का लक्ष्य अभी तक उतना नहीं

गया है जितना जाना चाहिए। यहाँ तक कि इस स्तोत्र के दो श्लोकों के रॉथ, भूर्टलिंक व गेल्डनर द्वारा किये गये अर्थ की ओर भी पूर्ण रूप से दुर्लक्ष कर यह कहा जाता है कि ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कल्पना है ही नहीं। यह सचमुच ही बड़े आश्चर्य की बात है। ये स्तोत्र ऋग्वेद के प्रथम मंडल के १६४वें गूढ़ार्थक स्तोत्र हैं। ये समस्त स्तोत्र हिरेक्लायट्स के समान परस्पर विरोधी भाषा में लिखे हुए होने के पश्चात् भी उनमें समस्त प्रश्नों का मानसशास्त्र की दृष्टि से विचार किया गया है, यह ध्यान में रखने योग्य है। इस मंत्र-द्रष्टा ऋषि ने कहा है कि पृथ्वी के जीवन का साररूप तथा उसे चैतन्य प्रदान करने वाली अस्थिविहीन आत्मा अस्थिमय शरीर कैसे धारण करती है ? क्या इसका किसी को निश्चित एवं पूर्ण ज्ञान है ? आत्मा सचेतन व वेगवान जीवनतत्व है जो जन्म लेता है और फिर विलुप्त हो जाता है, जो आगे पीछे फिरता रहता है। उसका शरीर से अति निकट का संबंध होने के पश्चात् भी उसकी गति इस शरीर के विरुद्ध ही रहती है। यह जो आत्मा के संबंध में इन दो अंतिम श्लोकों में बताया गया है उस से रॉथ, भूर्टलिंक व गेल्डनर का यह कथन, कि ऋग्वेद में पुनर्जन्म की कल्पना के अस्तित्व का भरपूर प्रमाण इन दो श्लोकों द्वारा उपलब्ध होता है, बिल्कुल उचित प्रतीत होता है। ३८वें श्लोक में जब कवि स्वतः कहता है कि मैंने पूर्व व परा मार्ग से बिना चूक जाने वाले, एकीकृत व विकीर्ण तेज से जगमगाने वाले तथा इहलोक में पुनः पुनः जन्म लेने वाले शरीरपालक को प्रत्यक्ष (कदाचित् मनश्चक्षु से) देखा है; तब तो यही कहना पड़ेगा कि इस पुनर्जन्मवाद की मुख्य बातों का उत्तर सदा के लिए मिल गया। तीसवें श्लोक में प्राणयुक्त, वेगवान् व सचेतन जीवनतत्व का निर्देश किया गया है। और उसके आगे ही ३१ वाँ श्लोक आता है। अतः इस श्लोक में आये हुए 'शरीर गोपा' का अर्थ आत्मा ही होगा इसमें संदेह का कारण नहीं है। इसके अतिरिक्त 'वरीवर्ति' पौनः पुन्य दर्शक शब्द है जिससे यही प्रगट होता है कि आत्मा बारम्बार इहलोक में जन्म लेती है।" (पृष्ठ १४९-१५२)

ऋग्वेद में पुनर्जन्म के उल्लेख के संबंध में जिन-जिन लोगों को संदेह हो उन्हें चाहिए कि वे प्रा० रानडे के इस विवेचन का मनन करें। जिस १६४वें सूक्त (ऋ० प्रथम मंडल) के संबंध में मैंने अभी अभी उल्लेख किया है उस सूक्त के निम्नलिखित कुछ उद्धरण ऋग्वेद की क्षेत्रज्ञ विषयक समस्त धारणाओं को स्पष्ट करने में समर्थ हैं। जैसे—

अपश्यं गोपां अनिपद्यमानं आ च पराच पथिभिश्चरन्तम्। स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानः आवरीवर्ति भुवनेषु अन्तः ॥३१॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुक् इत् नु तस्मात्।

स मातुर्योना परिवीतो अंतर्बहु प्रजाः निऋतिम् आविवेशा ॥३२॥

न विजानामि यत् इव इदं अस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि यदा मा आ अगन् प्रथमजाः ऋतस्य आत इत् वाचो अश्नुवे भागम् अस्याः ॥३७॥

देहधारण करने वाली आत्मा कभी भी न थकते हुए अपनी सदा की पद्धति से यहाँ आती है व वापस चली जाती है, यह मैंने प्रत्यक्ष देखा है। संयोग व वियोग दोनों के सामर्थ्यों से युक्त होकर वह पुनः पुनः जगत् में वापस आती है ॥३१॥

जिसने इसका निर्माण किया उसे यह नहीं जानता क्योंकि जो इसे लगातार देखता रहता है उसने अपने आप को इससे गुप्त रखा है और इसीलिए यह मनुष्यप्राणी माता के उदर में सिमट गया है तथा अनेक जन्म लेते हुए दुःख सागर में डूब गया है ॥३२॥

यह सब कुछ मैं ही हूँ, इसे न जानने के कारण ही मन के द्वारा आबद्ध होकर मैं विचित्र अवस्था में भ्रमण कर रहा हूँ। किन्तु परमतत्व से पहले ही उत्पन्न हुआ चैतन्य जब मुझ में आया, तब मुझे ईश्वरी वाचा का अंश प्राप्त हो गया ॥३७॥

तात्पर्य यह कि आत्मा देह, इंद्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि संघातों से बिल्कुल भिन्न है और वही सर्वव्यापक एवं जगद्रूप से व्याप्त परब्रह्म है। किंतु इसे वह नहीं जानता। इस स्वस्वरूप के अज्ञान के कारण ही वह संसारचक्र में परिभ्रमण कर रहा है। अज्ञान के कारण प्राप्त हुई इस जीवदशा में कर्मतत्व का बंधन, परलोक गति, कर्मानुसार मिलने वाला व बारम्बार प्राप्त होने वाला पुनर्जन्म का फेरा, उसमें भी उच्चनीचता और यही नहीं, पाप पुण्यात्मक कर्म के कारण मिलने वाले भिन्न भिन्न लोक आदि भारतीय अध्यात्मशास्त्र के परिणतावस्था को पहुँचे हुए तथा आजपर्यंत अविचल बने हुए क्षेत्र अथवा पिंड विषयक सिद्धान्त ऋग्वेदकाल में ही पूर्णावस्था को प्राप्त हो चुके थे यह प्रत्यक्ष ऋग्वेद के उल्लेखों से ही सिद्ध होता है। इन विचारों में आगे के उपनिषद् काल में कोई नवीन बात नहीं जोड़ी गई है। अब प्रश्न यह उठता है कि पिंड विचार के समान ही ब्रह्माण्ड या विश्वविषयक विचार भी वेदकाल में परिणतावस्था को प्राप्त हुए थे या नहीं ? वेदों में अनेक देवताओं के गान हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि अनेक में अनस्यूत एकत्व की तथा आगे चलकर परब्रह्म, परमात्मा आदि अभिधानों से पुकारे जाने वाले सत्यत्व की वैदिक लोगों को कल्पना थी या नहीं ? सच पूछा जाय तो आत्मा का पूर्ण ज्ञान रखने वालों को परमात्मा का ज्ञान नहीं था, यह कहना ही हास्यास्पद है। किन्तु फिर भी हीनम्मन्यता के कारण जो

लोग बिना प्रमाण के कुछ भी मानने को तैयार नहीं, उनके लिए वैदिक राष्ट्र की आत्मविषयक धारणा के दिग्दर्शन के पश्चात् अब उसकी परमात्म-विषयक धारणा के संबंध में विचार करने के लिए हम अग्रसर होते हैं। अगले अध्याय में हम उसी का विवेचन करेंगे।

२

वैदिक राष्ट्र की परमात्मविषयक धारणा

पिछले अध्याय में हमने ऋग्वेदकाल में ही पूर्णता को पहुँची हुई वैदिक राष्ट्र की आत्मविषयक धारणा के सम्बन्ध में ऊहापोह किया था। अब हम वैदिक राष्ट्र की परमात्मविषयक धारणा के सम्बन्ध में विचार करेंगे। इस परमात्मविषयक धारणा के संबंध में तो आत्मविषयक धारणा की अपेक्षा भी कहीं अधिक भ्रम फैला तथा फैलाया गया है। साहित्य के आधार पर साहित्य का परीक्षण करने से जो सहज निष्कर्ष निकले, उसे ग्रहण करने के स्थान पर पूर्वग्रहीत मान्यताओं के आधार पर साहित्यिक प्रमाणों को विकृत करने की जो बुरी आदत पाश्चात्य संस्कारों के कारण तथाकथित भारतीय अन्वेषकों को लग गई है, उसी का यह कुपरिणाम है। नासदीय सूक्तों सरीखे स्पष्टतः अद्वैतवादी सूक्तों में केतकर सरीखे अन्वेषकों को संशयवाद ही दिखलाई देता है। इससे हम इस भ्रान्त धारणा के विलक्षण प्रभाव की कल्पना कर सकते हैं। हम सर्वप्रथम भारतीय तत्वज्ञान व उपनिषदों की विकसित समझी जाने वाली परमेश्वरविषयक कल्पना का अवलोकन करेंगे व तत्पश्चात् प्रत्यक्ष वैदिक ऋचाओं के आधार पर यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वेदों की धारणा भी उसी प्रकार की है अथवा उससे भिन्न किसी प्राथमिक अवस्था का चित्र उपस्थित करती है।

व्यक्त-अव्यक्त

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि यह संपूर्ण विश्व व्यक्तमध्य है। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि का मूलतत्व अव्यक्त है तथा उसी अव्यक्त मूल तत्व में सृष्टि अन्त में विलीन हो जाती है, केवल मध्य का जो काल है उसी में सृष्टि व्यक्त दशा में रहती है। इस सृष्टि में भी जड़ व चेतन, उपभोग्य व उपभोक्ता, ज्ञाता व ज्ञेय का द्वंद्व दृष्टिगोचर होता है। इस द्वंद्व को ही भारतीय तत्वज्ञों ने सृष्टि का मूलतत्व माना है और उनका कथन है कि जड़-चैतन्य का यह द्वंद्वात्मक प्रवाह अनादिसिद्ध है। इस द्वंद्व के स्वरूप एवं उसके कार्य का वर्णन करते हुए गीताकार कहते हैं—

पुरुषं प्रकृतिं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

(प्रकृति व पुरुष दोनों को ही तू अनादि मान । विकार व गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं । कार्य अर्थात् देह व करण अर्थात् इन्द्रियों का कारण प्रकृति ही है । और कर्ता न होकर भी पुरुष ही सुखदुःख के उपभोग का कारण है ।) जगत् की तुलना में यह द्वंद्व अनादिसिद्ध भले ही हो किन्तु जिस वेदान्तकेसरी की गर्जना के आगे बाकी सब शास्त्रों की 'हुआ-हुआ' बन्द हो जाती है—और इस कथन की यथार्थता लोकमान्य तिलक ने भी मान्य की है—उस वेदान्तकेसरी की गर्जनानुसार "यदि नानात्व के मूल को प्रकृतिद्रव्य के एकत्व में खोजने की सांख्यादि द्वंद्ववादियों की पद्धति युक्तियुक्त एवं शास्त्रीय मानी जाय तो इस द्वंद्व तक आकर रुक जाना अशास्त्रीय सिद्ध होगा । इस क्रम को अन्त तक ले जाना अर्थात् प्रकृतिपुरुष रूपी द्वंद्व का भी अन्तर्भाव किसी एकत्व में करना आवश्यक हो जाता है। और इसीलिए प्रकृतिपुरुष के परे एक तीसरे सर्वव्यापक, अमृत व अव्यक्त तत्व तक हम पहुँचते हैं । और यह तत्व ही सृष्टि के मूल में विद्यमान है । उसकी इच्छा-शक्ति से जड़शक्ति कार्यप्रवण होती है और व्यवहार करती है । प्रकृति सगुण है और प्रत्येक सगुण पदार्थ नाशवान है, यह जगत् का अनुभव है । इस कारण यह एकमात्र अद्वितीय तत्व निर्गुण है और इसीलिए प्रकृति के नाश होने के पश्चात् भी वह बना रहता है । अतः वही सृष्टि का वास्तविक एवं नित्य तत्व है ।" गीताकार कहते हैं—

परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

—गीता ८-२०

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

—गीता अध्याय १५

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥
—गीता २-१७

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥
—गीता ७-७

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थित ॥
—गीता ९-४

(इस अव्यक्त के परे जो दूसरा सनातन अव्यक्त पदार्थ है वह समस्त भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। इस लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं, क्षर एवं अक्षर। क्षर याने नाशवान भूत व अक्षर याने इन समस्त भूतों के मूल में विद्यमान प्रकृतिरूप अव्यक्त तत्व। परन्तु पुरुषोत्तम इन दोनों से ही भिन्न है। उसे परमात्मा कहते हैं। वह अव्यक्त ईश्वर ही समस्त त्रैलोक्य में भरा हुआ है तथा वही सबका पोषण करता है। लोकव्यवहार एवं वेदों में मैं ही पुरुषोत्तम के नाम से प्रसिद्ध हूँ, क्योंकि मैं क्षरातीत एवं अक्षर से भी उत्तम पुरुष हूँ। इस सम्पूर्ण जगत् में जिसका विस्तार अथवा व्याप है, वह मूल आत्मास्वरूप ब्रह्म अविनाशी है, इसे तू ध्यान में रख। इस अव्यक्त तत्व का नाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। हे धनंजय, मुझसे परे कुछ भी नहीं है। डोरे में जिस प्रकार मणियाँ पिरोई हुई रहती हैं, उसी प्रकार ये सब मुझमें पिरोये हुए हैं। मैंने अपने अव्यक्त स्वरूप के द्वारा इस समस्त जगत् को व्याप्त किया है। मुझमें सब भूतों का निवास है, मेरा निवास उनमें नहीं हैं।)

आगे और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए गीताकार कहते हैं—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥
—गीता अध्याय ९

(क्रतु अर्थात् श्रौतयज्ञ मैं हूँ; यज्ञ अर्थात् स्मार्त यज्ञ मैं हूँ, स्वधा अर्थात् श्राद्ध में पितरों को अर्पित किया जाने वाला अन्न मैं हूँ; यज्ञ में हवन करते

समय जो मंत्र कहे जाते हैं वे मंत्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, तथा अग्नि में डाली जाने वाली आहुति भी मैं ही हूँ। इस जगत् का पिता, माता, आधार व पितामह मैं हूँ, जो कुछ पवित्र अथवा ज्ञेय है वह मैं हूँ तथा ऋग्वेद, सामवेद व यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। सबकी गति, सबका पोषक प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सखा, उत्पत्ति, प्रलय, स्थिति, निधान तथा अव्ययबीज भी मैं ही हूँ।) तात्पर्य यह कि एकसत्तारूप परब्रह्म के अतिरिक्त आत्यंतिक सत्य पदार्थ अन्य कोई भी नहीं है। नामरूपात्मक प्रपंच के नामों व रूपों को अलग कर देने के पश्चात् ज्ञानदृष्टि से और कुछ भी नहीं बचता। और वही सत्ता-रूप आत्यंतिक सत्य ही परमात्मा है जिसके अतिरिक्त इस दुनिया में और कोई सत्य न होने के कारण उसे छोड़कर जगत् का वास्तविक अस्तित्व है ही नहीं। यह परमेश्वरी तत्व सर्वत्र एकरस, अनन्यसदृश, स्वयंप्रतिष्ठित तथा स्वयंप्रज्ञ है। वह अद्वितीय होने के कारण उससे भिन्न इस जगत् में कुछ भी नहीं है। इस कारण वही एक सत्पदार्थ है, बाकी सारे असत्पदार्थ हैं। द्रष्टा, द्रश्य व दर्शन का सारा भेद केवल अज्ञानजनित है, परम सत्य में इस त्रित्व का लेश भी नहीं है। निखिल चराचरसृष्टि का उद्गमस्थान व उसकी समस्त शक्ति एवं प्रकाश का मूल कारण यह परब्रह्म ही है तथा वही इस जगत् का सार है।

परब्रह्म एवं नानात्मक सृष्टि

परमेश्वर के इस स्वरूप को देखने के पश्चात् स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न आँखों के आगे नाचने लगता है कि यदि वास्तव में श्री समर्थ की परिभाषानुसार **'रिता ठाव या राघवावीण नाहीं'** (कोई भी स्थान राघव से शून्य नहीं है) सत्य है तो इस अविनाशी, निर्गुण, अमृत, दिक्कालों से अमर्यादित, स्वतन्त्र व एकरस परब्रह्मरूपी कारण से सगुण, विनाशी, मरणधर्मी, मर्यादित व नानात्मक सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई ? सत्कार्यवाद का सिद्धान्त तो यह कहता है कि कारण के गुण कार्य में संक्रमित होते हैं। अत्यन्त विभिन्न गुणधर्म वाले कारण में से कार्य की कभी भी निष्पत्ति नहीं होती। यह आक्षेप लाजवाब होते हुए भी भारतीय तत्वज्ञान ने इसका बड़ी सरलता से उत्तर दिया है। सत्कार्यवाद के अथवा सांख्य के गुणपरिणामवाद का सिद्धान्त तभी लागू होता है जब कार्य व कारण एक ही वर्ग के हों। सत्य व निर्गुण परब्रह्मरूपी कारण व सगुण जगद्रूपी कार्य दोनों एक ही कोटि के नहीं हैं। जहाँ केवल एक ही पदार्थ सत्य और दूसरा उसका आभासमात्र है, वहाँ सत्कार्यवाद का सिद्धान्त भला कैसे लागू हो सकता है ? अद्वैत तत्वज्ञान ने जगत् को मायिक शब्द से सम्बोधित कर इस प्रश्न का उपयुक्त उत्तर प्रस्तुत किया है। सूर्य एक ही है यह निश्चित हो

जाने के पश्चात् पानी में पड़े हुए उसके प्रतिबिंब के लिए क्या सत्कार्यवाद के सिद्धान्त की उपपत्ति लागू की जा सकती है ? शास्त्रीय पद्धति से चन्द्रमा के स्वरूप का निश्चय कर लेने के पश्चात् केवल आंखों को दिखलाई पड़ने वाला व कविप्रतिभा का आश्रय प्राप्त किया हुआ उसका स्वरूप, अति दीर्घ अन्तर व आंखों की मर्यादित शक्ति के कारण क्या मिथ्या ही सिद्ध नहीं होगा ? ऐसी अवस्था में यदि यह कहा जाय कि निर्गुण परब्रह्म ही केवल सत्य है व ज्ञानशून्य इन्द्रियादिकों को उनके मर्यादित सामर्थ्य के दोष के कारण भासमान होने वाला यह नामरूपात्मक प्रपंच केवल भ्रम अथवा आभास मात्र है तो इसमें अनुचित क्या होगा ? एक ही अविकार्य वस्तु के ऊपर मनुष्य की भिन्न भिन्न इन्द्रियां अपने अपने दायरे के अनुसार अनेक नामरूपात्मक गुणों का आरोप उत्पन्न कर नाना प्रकार का आभास उत्पन्न करती रहती हैं। मूल वस्तु में उस आभास के बीज विद्यमान रहने ही चाहिए, यह आवश्यक नहीं है। आज की इन्द्रियों की जगह यदि दूसरी नई इन्द्रियां आ जायें तो सृष्टि का जो स्वरूप हमें आज दिखाई देता है, उससे कुछ भिन्न ही उस समय दिखने लगेगा। मान लीजिए कि अपनी आज की नेत्रशक्ति के स्थान पर अचानक क्ष-किरणों की शक्ति अपने नेत्रों में आ जाय तो आज का जगत् हमें बिल्कुल ही बदला हुआ दिखाई देगा। और यदि कहीं वह क्ष-किरणों की दृष्टि सतत् रूप से बनी रही तो मानवी शरीर एवं जगत् के सौंदर्य की सारी व्याख्याएं ही बदल जाएंगी व उनके स्थान पर नई व्याख्याएं, नये काव्य, नये उपमान व नये सौंदर्य मूल्यों का निर्माण होगा। जगत् में सदा ही दो प्रकार के दृष्टिकोण विद्यमान रहते हैं। एक व्यावहारिक या कामचलाऊ (commonsense view) तथा दूसरा शास्त्रीय व सत्यान्वेषक (Scientific view)। आज के विज्ञानवेत्ताओं के मतानुसार मनुष्य की बुद्धि के लिए अगम्य ऐसे कल्पनातीत वेग से फिरने वाले गतिस्वरूप विद्युत-परमाणुओं का संघ ही पदार्थ का वास्तविक स्वरूप है। एक ही मूलद्रव्य में निश्चित अवधि में होने वाले आन्दोलनों की भिन्न भिन्न संख्या ही प्रकाश व ध्वनि है। ध्वनि याने ही प्रकाश व प्रकाश याने ही ध्वनि। व्यक्त सृष्टि में कोई भी वस्तु जड़ व स्थिर नहीं है। मनुष्य शरीर, मानवी इन्द्रियाँ, मस्तिष्क आदि सब सर्वत्र विद्यमान अनंत, अपरिमित गति के ही अभिन्न भाग हैं। कालक्रम व गति के परस्परप्रमाण के आधार पर ही सृष्टि के पदार्थों का नानात्व दिखाई देता है। यह आज का वैज्ञानिक सत्य है। परन्तु स्थूल दृष्टि से देखने पर क्या हमें इसकी प्रतीति हो सकती है ? यदि हम अपने व्यवहार को किसी आधार पर आधारित करना चाहें तो क्या इस शास्त्रीय दृष्टिकोण पर हम उसे आधारित कर सकते हैं ? व्यवहार सदा स्थूल दृष्टि (commonsense view) व स्थूल प्रत्यय के अनुसार ही हुआ करता है। परन्तु

जहाँ सत्य का सवाल उपस्थित होता है वहाँ हमें इस गतिरूपता की ओर ही अंगुलिनिर्देश करना पड़ता है। आज के इस काल में, जब शास्त्रीय ज्ञान अमर्यादित गति से बढ़ रहा है तथा श्रेष्ठशास्त्रीय सत्यों का परिचय नित्यप्रति होता जा रहा है, विवर्तवाद के उन सत्यों के बारे में संदेह करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता जिनके अनुसार आभास व मूलस्वरूप एक दूसरे से भिन्न हैं तथा आभास का कारण भिन्न होने से उसके द्वारा मूल स्वरूप में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता। जगत् को उत्पन्न करने वाली त्रिगुणात्मक माया या प्रकृति कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, अपितु अज्ञान के कारण मनुष्य की इन्द्रियों के द्वारा एक निर्गुण ब्रह्म पर किया जाने वाला सगुण आभास का अध्यारोप मात्र है। एक बार परब्रह्म में इस प्रकार की त्रिगुणात्मक प्रकृति का आभास उत्पन्न हो जाने के पश्चात् फिर आगे उसका विस्तार सत्कार्यवाद के सिद्धान्तों के अनुरूप ही होता है, ऐसा भारतीय तत्वज्ञों ने माना है। और इसीलिए उनके मतानुसार इस आभास का विस्तार नियमबद्ध रहता है। विश्व का विचार करते समय तात्विक दृष्टि से विश्व के दो वर्ग होते हैं—एक नामरूप तथा दूसरा उसके आवरण के नीचे विद्यमान नित्य तत्व। इनमें से नामरूप को ही सगुण माया अथवा प्रकृति नाम दिया गया है। परन्तु इन नामरूपों को दूर कर देने के पश्चात् जो नित्य द्रव्य शेष रहता है, वह नित्य व अव्यक्त तत्त्व ही परब्रह्म है।

अद्वैत

इस परब्रह्म अथवा परमात्मा को ही एकरस एवं त्रिकालाबाधित सत्य मान लेने के पश्चात् भारतीय तत्वज्ञान आगे कहता है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार में जिसे क्षेत्र कहा गया है वह सम्पूर्ण मायिक है तथा जिसे क्षेत्रज्ञ अथवा आत्मा कहा गया है वह नित्यस्वरूप परब्रह्म की श्रेणी में आता है। इस कारण ब्रह्म तथा आत्मा एक ही हैं। या यदि दूसरे शब्दों में कहा जाय तो स्वतः के अतिरिक्त इस जगत् में अन्य कुछ है ही नहीं। भगवान् गीता में कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

—गीता १५-७

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

—गीता १३-३१

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

—गीता १३-३३

(मेरा सनातन अंश ही जीवलोक में जीव बनकर प्रकृति में विद्यमान मन समेत छहों इन्द्रियों को अपनी ओर खींच लेता है। अनादि व निर्गुण होने के कारण यह परम् आत्मा स्वयं कुछ नहीं करता और न उसे किसी कर्म का लेप अथवा बंधन ही लगता है। जिस प्रकार अकेला सूर्य समस्त जगत् को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यह क्षेत्रज्ञ समस्त क्षेत्र अर्थात् शरीर को प्रकाशित करता रहता है।)

तात्पर्य यह कि व्यक्त या अव्यक्त अथवा क्षर या अक्षर सृष्टि का मूलतत्व परब्रह्म एवं मानवी देहपिंड में क्षेत्रज्ञ के रूप में वास करने वाली अस्मिता मूलतः एक ही हैं; पिंड एवं ब्रह्माण्ड में सर्वत्र एक ही पुरुषोत्तम भरा हुआ है। यही भारतीय संस्कृति का विकसित व शाश्वत तत्वज्ञान है। व्हाईटहेड सरीखे आधुनिक तत्वज्ञ भी अब यह कहने लगे हैं कि "प्रत्येक वस्तु दो अंगों से युक्त होती है, एक भौतिक अंतरंग व दूसरा आध्यात्मिक अंतरंग। और जिस प्रकार यह मानवी देह एक आत्मा के सूत्र में पिरोया हुआ है, उसी प्रकार यह अखिल विश्व भी एक चैतन्यरूपी सूत्र में सुगुंफित है एवं सर्वत्र एक ही तत्व अनुस्यूत हुआ हमें दिखाई देता है।" इस पर से भारतीय तत्वसिद्धान्तों की त्रिकालाबाधित श्रेष्ठता निस्संदिग्ध रूप से सिद्ध होती है। नामरूप से युक्त यह सारा प्रसार सच्चिदानंद परब्रह्म का ही स्फुरण होने के कारण परब्रह्मस्वरूप ही है। लहर एवं पानी में भी कोई अन्तर हो सकता है ? एतदर्थ भारतीय तत्वज्ञ जगत् एवं परमेश्वर को भिन्न भिन्न न मानकर सबको परमेश्वर एवं उसका चिद्विलास ही मानते हैं।

भारतीय तत्वज्ञान का यह स्वरूप अत्याधुनिक काल से लेकर के ऋग्वेद काल तक समानरूप से विद्यमान है, इस बात पर यदि हम ध्यान दें तो वैदिक काल के तात्त्विक विकसन की पूर्ण कल्पना हमें हो सकती है। एक ही तत्व प्रकृति के रूप में क्यों भासमान होता है, इसके स्पष्टीकरण के रूप में भारत के अत्याधुनिक तत्वज्ञ महर्षि अरविन्द के तत्वज्ञान का सारांश, जो उनके अनुयायियों ने प्रस्तुत किया है, मनन करने योग्य है। *"चैतन्य ही संघात, मर्यादितता एवं आत्यंतिक केन्द्रितता के कारण जड़ बना। चैतन्य की यह एक प्रकार की अपक्रान्ति हुई। उत्क्रान्ति की ओर उन्मुख होने पर जड़ का पुनः चैतन्य में रूपान्तर होता है।" महर्षि अरविन्द के इस दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में वही तत्वज्ञान है जिसका हमने अब तक विशदीकरण किया है। इस सत्य की अनुभूति के लिए ऋषि अरविन्द ने अपना सारा जीवन ही लगा दिया। आधुनिक भारत

*Spirit has become matter by crystallisation, self-limitation and exclusive concentration. A movement of Involution has made spirit terminate into matter. A return journey—Evolution—would make matter culminate in spirit.

के सर्वश्रेष्ठ आत्मज्ञानी एवं 'अवतारनिष्ठ' श्री रामकृष्ण परमहंस के संवादों का जिस ग्रंथ में संग्रह हुआ है उसमें से तो इस तत्वज्ञान को प्रगट करने वाले वाक्य के वाक्य एवं परिच्छेद के परिच्छेद उद्धृत किये जा सकते हैं। अगर यह कहा जाय कि आज का कालखंड अत्याधुनिक होने के कारण इतना विकसन सर्वथा संभव है, तो यह भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि तीन सौ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र में हुए श्री तुकाराम महाराज एवं श्री समर्थरामदास प्रभृति श्रेष्ठ तत्वज्ञों के साहित्यों में भी इसी परमेश्वरी स्वरूप का आविष्कार बिना रंचमात्र भी परिवर्तन के हुआ हमें दिखाई देता है। श्री समर्थ कहते हैं—
"रिता ठाव या राघवावीण नाहीं" (राघव से शून्य कोई भी स्थान नहीं है) **"जिकडे पहावे तिकड़े अपार। कुणी कडे नाहीं पार। एकजिनसी स्वतंत्र। दुसरे नाहीं।"** (जहाँ देखो वहीं वह अपार विद्यमान है। उसका कहीं पारा-वार नहीं। वह स्वतंत्र एवं एकरस है। उसके समान कोई दूसरा नहीं है।) श्री समर्थ के समकालीन श्री तुकाराम महाराज ने तो स्पष्टतया यह कहा है कि **"सत्य तूं सत्य तूं सत्य तूं विठ्ठला। कांगा हा दाविला जगदाभास। रूप नाहीं त्यासी ठेवियेलें नाम। लटकाचि श्रम वाढविला।।" "जग अवघे देव। मुख्य उद्देशाची ठेव।।"** (हे विठ्ठल, वास्तव में तुम्हीं एकमात्र सत्य हो। फिर तुमने यह जगद्रूपी आभास क्यों दिखाया है? जिसका कोई रूप नहीं उसे एक नया नाम देकर तुमने श्रम मात्र बढ़ाया है। सच तो यही है कि यह पूरा व पूरा जगत् केवल ईश्वर ही है।) एक स्थान पर तो उन्होंने कहा है :—

कासयानें पूजा करूं केशिराजा।
हाचि संदेह माझा फेडी आतां।।
उदकें न्हाणूं तरी स्वरूपचीं तुझें।
तेथें देवा माझें काय वेचें।।

गंधाचा सुगंध पुष्पाचा परिमल।
तेथें मी दुर्बल काय वाहूं।।
वाहूं दक्षिणा परी धातू नारायण।
अन्न परब्रह्म दुजे नाहीं।।

गाता तो ओंकार टाली नादेश्वर।
नाचावया भार नाहीं कोठें।।
फल दाता तूंच तांबूल अक्षता।
तेथे मी अनंता काय वाहूं ?।।

तुका म्हणें हरी अवघे तुझें नाम।
धूप दीप रामकृष्ण हरी।।

(हे परमेश्वर, मैं तुम्हारी पूजा कैसे करूँ ? मेरे मन के इस संदेह को दूर करो। तुम्हें यदि मैं पानी से नहलाता हूँ वह पानी भी तुम्हीं हो। फिर उसमें मेरा अपना क्या लगा ? और फिर गंध और पुष्प भी तुम्हीं हो। ऐसी अवस्था में मैं दुर्बल तुम्हें भला क्या अर्पित कर सकता हूँ ? यदि दक्षिणा अर्पित करूँ तो तुम्हीं धातु भी हो और अन्न भी सिवा परब्रह्म के और कुछ नहीं है। गाऊँ तो वह ओंकार है और यदि तालियाँ बजाऊँ तो वह नादब्रह्म है। नाचने के लिए भी मुझे कोई जगह नहीं है। तुम्हीं फल देने वाले हो व ताम्बूल व अक्षत भी तुम्हीं हो। ऐसे तुम अनंत को मैं भला क्या अर्पित कर सकता हूँ। तुम्हारा नाम भी तुम स्वयं ही हो व धूप दीप भी सिवा तुम रामकृष्ण के और कुछ नहीं है।)

इनसे कुछ शताब्दि पूर्व हुए श्री एकनाथ महाराज कहते हैं—

द्वैत तितुकें केवल दुःख । परम सुख अद्वैती ॥
मी सर्वात्मा आत्ममूर्ती । क्रिया शक्ति तेही मीच ।

(द्वैत ही दुःखकारक और अद्वैत ही परम सुखमय है। मैं ही सबका आत्मस्वरूप सर्वात्मा हूँ व मैं ही सबकी क्रियाशक्ति भी हूँ।) वारकरी संप्रदाय के उद्गम श्री ज्ञानेश्वर महाराज के अद्वैतवाद के संबंध में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। उदाहरण के लिए यदि उनके कुछ उल्लेख देखना ही हो तो वे ये हैं।)

अनुभवामृत के मंगलाचरण में श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं—

सार्धं केन च कस्यार्ध शिवयोः समरूपिणोः ।
ज्ञातुं न शक्यते लग्नमिति द्वैतच्छलान्मुहुः ॥
अद्वैतमात्मनस्तत्त्वं दर्शयन्तौ मिथस्तराम् ।
तौ वंदे जगतामाद्यौ तयोस्तत्त्वाभिपत्तये ॥

"द्वैत के दिखावे के कारण शिव व शक्ति बारम्बार एक दूसरे से संलग्न हुए भले ही क्यों न दिखाई देते हों, किंतु समानरूप शिवतत्व में कौनसा आधा किसका तथा कौन किसके आधे के साथ है यह समझना संभव नहीं है। इसलिए जगत् के उन आद्यों को मैं ज्ञानेश्वर नमस्कार करता हूँ ताकि उनके यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति हो सके।" अनुभवामृत में महाराज आगे कहते हैं,

गोडी आणि गुळू । कपूर आणि परमळू । निवडू जाता पांगळू । निवाडू होये ॥ समग्र दीप्ती घेता । जेवि दीपुचिये हाता । तेवि जियेचिया तत्वता । शिवूचि लाभे ॥ जैसी सूर्य मिरवे प्रभा । प्रभे सूर्यत्वचि गाभा । तैसी भेद गिळीत शोभा । येकचि असे ॥ कां बिंब प्रतिबिंबा द्योतक । प्रतिबिंब बिंबा अनुमापक । तैसे द्वैतामिसेएक । वरवतसे ॥

— अनुभवामृत प्रक० १ ला पंक्ति २३, २४, २५, २६

"जैसे गुड़ से उसके माधुर्य व कपूर से उसकी सुगंध को अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जीव को भी शिव से पृथक् नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार एक दीपक को हाथ में लेने पर पूरे तेजतत्त्व का ही ग्रहण होता है, उसी प्रकार जीव को ग्रहण करने पर शिवतत्त्व का ही ग्रहण होता है। प्रभा और सूर्य ज्यों अभिन्न हैं, जीव और शिव भी वैसे ही अभिन्न हैं। जैसे बिंब प्रतिबिंब का द्योतक है और प्रतिबिंब से बिंब का अनुमान होता है, वैसे ही द्वैत और अद्वैत का भी एक दूसरे से संबंध प्रगट होता है।"

श्री ज्ञानेश्वर महाराज को स्फूर्ति देने वाली भगवद्गीता किस प्रकार अद्वैतवादी है यह हमने देखा ही है। वारकरी सम्प्रदाय के दूसरे स्फूर्तिकेन्द्र श्रीमद्भागवत पुराण के मंगलाचरण से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्व-ज्ञान की दृष्टि से वह अद्वैतवादी है। वह मंगलाचरण इस प्रकार का है—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा।
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि॥

"जो इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व लय का कारण है, अन्वय व व्यति-रेक से जो इस जगत् के अणुरेणु में व्याप्त है, जो सर्वज्ञ व सर्वशक्तिसमन्वित है, जिसके कारण ब्रह्मदेव के हृदय में वेद का स्फुरण हुआ, बड़े बड़े श्रेष्ठ पुरुष भी जिसके स्वरूप ज्ञान के बारे में ससंभ्रमित हैं, जिसके ऊपर यह जगत् मृग-जल के समान भासित होता है, स्वत: के तेज से जो समस्त माया के अंधकार को विनष्ट करता है, उस परमार्थ सत्य का हम ध्यान करते हैं।"

भगवान् श्री शंकराचार्य तो पूर्णत: अद्वैतवादी थे ही, इसलिए उनके मत के संबंध में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उनके भाष्यों एवं स्तोत्रों में सर्वत्र अखंड रूप से **'ब्रह्म सत्यं'** का ही डिमडिमनिनाद हो रहा है। भारतीयों की विकसना-वस्था के इस परमात्मवाद का ही उपनिषदों में भी ज्यों का त्यों प्रतिपादन हुआ है। समस्त जगत् एक ही परमात्मा से भरा हुआ है तथा उसके अति-रिक्त दुनिया में और कुछ नहीं है, इस भासित होने वाले नामरूपात्मक प्रपंच में व्यावहारिक सत्यत्व भले ही हो किंतु पारमार्थिक सत्यत्व किंचिन्मात्र भी नहीं है, तथा यह जगत् केवल अनिर्वचनीय है एवं परमेश्वरी एकत्व की अनुभूति होने पर ही उसका अस्तित्व बाधित होता है, यही उपनिषदों का सिद्धान्त है।

उपनिषदों में मायावाद

जो लोग यह कहते हैं कि उपनिषदों में मायावाद है ही नहीं, उनके लिए महाराष्ट्र के विख्यात तत्त्वज्ञ प्रा० रा० द० रानडे ने बड़ा ही समर्पक उत्तर

दिया है। श्री रानडे अपने ग्रंथ* में कहते हैं—

"उपनिषदों में मायावाद के लिए आधार प्राप्त होता है या नहीं, यह देखने के लिए जो अनेक प्रयत्न हुए हैं उनमें से मुख्य ये हैं—उपनिषदों की शब्दसूची या अनुक्रमणिका बनाकर उसमें माया अथवा तदर्थक शब्दों को ढूँढना व उनके आधार पर उपनिषदों में मायावाद है या नहीं, यह सिद्ध करना। परन्तु इस प्रकार का प्रयत्न बड़ा ही हास्यास्पद है, क्योंकि उससे उपनिषदों में मायावाद के अस्तित्व का विचार न होकर केवल इसी बात का विचार होता है कि उपनिषदों में मायावाद अथवा तद्वाचक शब्द प्राप्त होते हैं या नहीं और इस कारण कल्पना की अपेक्षा शब्दों को ही अधिक महत्व प्राप्त होते हैं। इस कारण यदि यह सिद्ध करना है कि उपनिषदों में मायावाद मिलता है या नहीं तो उसके लिए उपनिषद्कालीन समस्त विचारों का समीक्षण करना पड़ेगा। हमारा तो यह निश्चित मत है कि उपनिषदों में मायावाद का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है और इस कारण मायावाद शंकराचार्य द्वारा प्रसृत कोई नवीन कल्पना अथवा उनके मन के ऊपर हुआ शून्यवाद का परिणाम नहीं है, प्रत्युत उपनिषदों में ग्रथित मायावाद विषयक विचारों का ही श्री शंकराचार्य द्वारा बड़े परिश्रम से किया गया विस्तृत मंडन है, जिसे उन्होंने अद्वैत तत्वज्ञान के अंतर्गत सुगुंफित कर दिया है।"

उपनिषदों के कुछ भागों को मैं यहाँ उद्धृत करूँगा जिनसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि उपनिषद् काल में भी जगत् व जगदीश्वर के संबंध में भारतीय तत्वज्ञान ने पूर्णता प्राप्त की थी।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि जुगुप्सते॥६॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥१५॥

—ईशावास्योपनिषद्

*A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy Pp. 224.

"वह परब्रह्म पूर्ण है। उपाधिसहित ब्रह्म भी पूर्ण ही है। यह कार्यात्मक ब्रह्म उस पूर्ण अर्थात् कारणात्मक ब्रह्म से उत्पन्न होता है। परन्तु उत्पन्न होकर विलग होने पर भी उसका पूर्णत्व बना रहता है तथा अवशिष्ट रहने वाला ब्रह्म भी पूर्ण ही रहता है। जो समस्त भूतों को अपनी आत्मा में देखता है तथा अपनी आत्मा को समस्त भूतों में देखता है, वह अपने इस दृष्टिकोण के कारण किसी से घृणा नहीं करता। जब ज्ञानी पुरुष समस्त भूतों को आत्मस्वरूप समझने लगता है, तब उस एकत्व देखने वाले विद्वान् को भला कौन सा शोक या मोह सता सकता है ? वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, वह शुद्ध लिंगशरीररहित, अक्षत, स्थूलशरीरशून्य, अविद्या-मलरहित, धर्माधर्मादि पापरहित, सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सबसे श्रेष्ठ व स्वयंभू है। वह नित्यमुक्त ईश्वर कर्मफल व साधन के अनुसार प्रजापति के लिए नित्य यथायोग्य कर्तव्य का विभाजन किया करता है। ज्योतिर्मय तेजस्वी पात्र के द्वारा आदित्यमंडलस्थ ब्रह्म का मुखद्वार ढँका हुआ है। हे पूषन्, मुझ सत्यधर्म को तेरे उस सत्य आत्मतत्व की उपलब्धि हो सके, इसलिए उस द्वार को तू खोल दे।" (सत्य को ढँकने वाला आवरण सोने का होने के कारण इतना उज्ज्वल, बहुमूल्य व देदीप्यमान है कि उसके पीछे विद्यमान सत्य की ओर प्रेक्षकों की दृष्टि नहीं जाती वरन् उस आवरण में ही अटकी रहती है। चमकने वाली सब वस्तुएं सोना ही नहीं होतीं, इस कारण इस चमकने वाले सुवर्णपात्र के द्वारा हमारी आँखें चौंधिया न जायें, यही इसका अर्थ है। इति रानडे।)

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥

—काठकोपनिषद्, व० २

"आत्मतत्व सूक्ष्मतम अणु से भी अधिक सूक्ष्म व महत् परिमाणवान् पदार्थ से भी अधिक महान् है। वह समस्त प्राणियों के हृदय में वास करता है। संकल्पहीन श्रेष्ठ पुरुष ही उसको देख सकते हैं व उसे देखकर वे शोकरहित हो जाते हैं।"

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

—का० अ० २, व १

"अद्वैत विज्ञान के पूर्व आचार्योपदेश व आगम की सहायता से केवल सुसंस्कृत मन ही इस तत्व का समाकलन कर सकता है। ब्रह्म में अणुमात्र भी नानात्व नहीं है। जो इस ब्रह्म में नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु की ओर जाता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में सदा फँसा रहता है।"

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

—का० अ० २, व० २

"जिस प्रकार एक ही वायु इस भुवन में प्राणरूप से देह में प्रविष्ट होकर प्रत्येक पदार्थ का प्रतिरूप भी बना हुआ है उसी प्रकार एकमेव सर्वभूतान्तरात्मा प्रत्येक रूप में प्रगट होकर बाहर भी विद्यमान है। सबको वश में रखने वाले तथा एक ही रूप को अनेक प्रकार से प्रगट करने वाले सर्वभूतान्तरात्मा को जो धीर अपनी बुद्धि द्वारा देखते हैं, उन्हें शाश्वत सुख प्राप्त होता है। अविवेकी लोगों को उसकी प्राप्ति नहीं होती। नाशवान् पदार्थों में जो अविनाशी है, ब्रह्मादि चेतनाओं में जो चेतन है, जो एक अनेक को कर्मफलरूप काम देता है, उस बुद्धिस्थ आत्मा को जो बुद्धिमान जानते हैं, उन्हें नित्य शान्ति प्राप्त होती है। अन्यों को नहीं प्राप्त होती।"

यदोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषोत्केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ॥७॥

—मुंडकोपनिषद् १.१

"जिस प्रकार मकड़ी तंतुओं को उत्पन्न करती है व पुनः उन्हें अपने शरीर में वापस खींच लेती है, अथवा जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, अथवा जिस प्रकार पुरुष से केश व लोम उत्पन्न होते हैं; उसी प्रकार अक्षर से इस संसार मंडल में विश्व की उत्पत्ति होती है।"

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीहसोम्य ॥१०॥

—मुंडक० २.१

"यह सम्पूर्ण विश्व पुरुष ही है। पुरुष से भिन्न विश्व नाम की कोई वस्तु नहीं है। कर्म, तप व उसका फल आदि सब ब्रह्म ही है। समस्त प्राणियों की हृदयरूपी गुफा में स्थित इस ब्रह्म को जो जानता है, वह इस लोक में ही अविद्याग्रंथि को नष्ट कर देता है।"

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

"यह अमृतमय ब्रह्म ही आगे, पीछे, दायें, बायें, ऊपर व नीचे फैला हुआ है। यह समस्त जगत् वरिष्ठ ब्रह्म ही है।"

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म (मां अं० १ मं० २) (यह सब ब्रह्म ही है व यह आत्मा भी ब्रह्म है)। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० ब्रह्मवल्ली १) (ब्रह्म ही सत्य, ज्ञान व अनन्त है)। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** (छांदो० अ० ३, खंड १४) (यह सब कुछ ब्रह्म ही है)। **'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (हे सौम्य, उत्पत्ति के पहले एक ही अद्वितीय सत्तत्व विद्यमान था)।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥

—बृहदारण्यक २.४.१४.

"जहाँ अविद्या के कारण द्वैत (अर्थात् मिथ्यात्व) का आभास होता है, वहाँ सूंघनेवाला व जिसे सूंघा जाता है, देखने वाला तथा जिसे देखा जाता है, सुनने वाला व जिसे सुना जाता है, बोलने वाला व जिससे बोला जाता है, विचार करने वाला व जिसका विचार किया जाता है, जानने वाला व जिसको जाना जाता है आदि भेद उत्पन्न होते हैं। पर जहाँ सब कुछ आत्ममय हो गया है वहाँ कौन किसे सूँघेगा ? कौन किसे देखेगा ? कोई क्या सुनेगा ? कोई क्या बोलेगा ? कौन काहे का मनन करेगा ? व कौन किसे जानेगा ? जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है उसे किस माध्यम से जाना जा सकता है ? हे मैत्रयी, विज्ञाता को किन साधनों से जाना जाय?"

सारांश यह कि उपनिषदों के मतानुसार काल (Time), देश व कार्य-कारणसंबंध से मर्यादित जो पदार्थ है वह मिथ्या है व दिक्कालातीत व एकमेवाद्वितीय परब्रह्म ही वास्तव में सत्य है, यह परमात्मा व अपने देह में विद्यमान आत्मा एक ही है। **'अयमात्मा ब्रह्म,' 'तत्त्वमसि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' व 'अहं ब्रह्मास्मि'** इन चार महावाक्यों के आधार पर ही भारतीय तत्त्वज्ञान का विशाल मंदिर खड़ा है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष उपनिषदों के आधार पर हमने देखा कि रामकृष्ण व अरविन्द घोष के काल में जिस तत्वज्ञान का आविष्कार हुआ व श्री शंकराचार्य के काल में जिसे शास्त्रीय परिभाषा का स्थिर स्वरूप प्राप्त हुआ वह तत्वज्ञान उपनिषद् काल में ही पूर्णत्व प्राप्त कर चुका था। अब यदि यह सिद्ध हो जाय कि वैदिक ऋचाओं में भी इसी तत्वज्ञान का स्पष्ट आविष्कार दिखता है तो पूर्वग्रहरहित विचारवंत को यह मान्य करना ही पड़ेगा कि वैदिक ऋषियों को इस तत्वज्ञान का परिपूर्ण साक्षात्कार हो गया था

तथा वैदिक राष्ट्र के भाव जीवन को उस काल में ही तत्वज्ञान का स्थिर आधार प्राप्त हो गया था। हमने क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार के क्षेत्रज्ञ अथवा आत्मासंबंधी ऋग्वेद के उल्लेखों का अनुशीलन किया ही है तथा उससे निकलने वाले निष्कर्ष भी देखे हैं। अब हम जगत व जगदीश्वर विषयक अथवा परमात्माविषयक उल्लेखों का प्रत्यक्ष विचार करेंगे व देखेंगे कि उनसे क्या निष्कर्ष निकलता है।

जगत एवं जगदीश्वर

ऋग्वेद में अनेक देवताओं के विलक्षण महत्व का वर्णन किया गया है। ये देवता कौन थे इस संबंध में हम आगे विचार करेंगे ही तथा यह भी देखेंगे कि उन्हें निसर्ग के अद्भुत चमत्कार मानने की कल्पना कितनी हास्यास्पद है, किन्तु एक बात अवश्यमेव स्पष्ट है कि ऋग्वेद में देवता अनेक हैं, भले ही उनका मूलस्वरूप कुछ भी क्यों न रहा हो। और इस कारण यह मानने की प्रवृत्ति सी बन गई है कि ऋग्वेदीय लोग अनेक देवतावादी थे व आगे चलकर वे क्रमशः एक देवत्व की ओर अग्रेसर हुए। किन्तु ऋग्वेद को देखने पर यह बात गलत मालूम होती है। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि वास्तव में एक ही तत्व सर्वत्र व्याप्त है और वही भिन्न भिन्न नामों से व्यक्त हुआ है तथा यह भासमान होने वाला नानात्व वास्तविक नहीं अपितु एकरूप एकत्व ही वास्तविक है। यह बात भिन्न भिन्न देवताओं का नाम लेकर कही गई है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।
—ऋ० १.१६४.४६

(उसे इन्द्र, वरुण, मित्र व अग्नि कहते हैं व वही पक्षों से युक्त दिव्य गरुड़ (पक्षी) भी है। वह एक ही है तथा उसे विप्रगण (ज्ञाता) अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नाना प्रकार के नामों से पुकारते हैं।)

ऋग्वेद के परमेश्वर व जगत् सम्बन्धी निम्नलिखित कुछ सूत्रों व मंत्रों पर यदि हम ध्यान दें तो ऋग्वेद की जगत व जगदीश्वर विषयक धारणा पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायेगी।

अचिकित्वात्र चिकितुषः चित् अत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यः तस्तंभ षल् इमा रजांसि अजस्य रूपे किं अपि स्वित् एकम् ।।
—ऋ० १.१६४.६

(इस सम्बन्ध में मेरी समझ में कुछ नहीं आता। मैं अज्ञानी जो ठहरा। अतः समझने के लिए, जिन्हें ये सारी बातें समझ में आती हैं उन्हीं से मैं पूछता हूं कि क्या यह सत्य है कि इन छहों लोकों को धारण करने वाले उस जन्मरहित ईश्वर के स्वरूप में एकात्मकता है ?)

अहम् इन्द्रः वरुणः ते (इति) महिऽत्वा उर्वी (इति) गभीरे (इति) रजसी (इति) सुमेके (इति) सुऽमेके। त्वष्टाऽइव विश्वा भुवनानि विद्वान् सम् ऐरयन् रोदसी (इति) धारयम् च।

—ऋ० ४.४२.३

(मैं इन्द्र हूँ, मैं ही वरुण भी हूँ। अपनी महिमा के कारण अति विस्तीर्ण, गहरे व रम्याकृति बने हुए वे (दो रजोलोक) भी मैं ही हूँ। मैं ही सर्वज्ञ देव हूँ तथा मैंने ही त्वष्टा के समान यच्चयावत् भुवनों को चालना देकर सम्भाला हुआ है।)

सहस्रऽशीर्षा पुरुषः सहस्रऽअक्षः सहस्रऽपात्।
स भूमिं विश्वतोः वृत्वा अति अतिष्ठत् दश अंङ्गुलम् ॥१॥
पुरुषः एव इदम् सर्वम् यत् भूतम् यत् च भव्यम्।
उत अमृतऽत्वस्य ईशानः यत् अन्नेन अतिऽरोहति ॥२॥
एतावान् अस्य महिमा अतः ज्यायान् च पूरुषः।
पादः अस्य विश्वा भूतानि त्रिपात् अस्य अमृतम् दिवि ॥३॥
त्रिपात् ऊर्ध्वः उत् ऐत् पुरुषः पादः अस्य इह अभवत् पुनः।
ततः विष्वङ् वि अक्रामत् साशनानशने (इति) अभि ॥४॥

(परमात्मास्वरूप) पुरुष के सहस्रावधि मस्तक (हैं), सहस्रावधि नेत्र (हैं), सहस्रावधि चरण भी हैं। वह पृथ्वी को चारों ओर से आवेष्टित करने के पश्चात् भी दस अंगुल बचा ही रहता है ॥१॥

यह जो सारा विद्यमान (विश्व) है वह सब पुरुष (परमात्मा) ही है। जो (इसके) पहले हो चुका है अथवा जो आगे होने वाला है वह भी यही है। उसी प्रकार अमृतत्व का (अर्थात् जरामृत्युरहित स्थिति का) अधिपति भी वही है तथा अन्न भक्षण कर जो वृद्धिगत होता है (अर्थात् प्राणी) उसका भी स्वामी वही है ॥२॥

उसकी महिमा ऐसी (अपार) है किन्तु वह स्वतः उस महिमा से भी बड़ा है। क्योंकि यह जो सारा विश्व है वह उसका केवल चौथा भाग है। बाकी के अमृतरूप तीन भाग दिव्यलोक में विद्यमान हैं ॥३॥

इस प्रकार यह त्रिभागद्योतित (विश्वातीत) पुरुष जब उपस्थित हुआ तब उसका चौथा अंश पुनः इस लोक में प्रगट हुआ व (प्रगट होते ही) उसने समस्त (दृश्यादृश्य) विश्व व अन्नखाकर जीने वाले तथा जिन्हें अन्न की आवश्यकता नहीं ऐसे (अर्थात् सचेतन व अचेतन) दोनों ही प्रकार के पदार्थों को व्याप्त कर लिया ॥४॥

—ऋ० मं० १० सू० ९०

को ददर्श प्रथमं जायमानम् अस्थन्वंतं यत् अस्थना बिभर्ति ।
भूम्याः असुर् असृक् आत्मा क्व खित् को विद्वासं उप गात् प्रष्टुम् एतत् ।।४।।
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्यो अभि चाकशीति ।।२०।।
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागम् अनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ।।२१।।
—ऋ० मं० १, सू० १६४

स्वयं अस्थिरहित (अर्थात् अजड़) होकर भी जो अस्थियुक्त प्राणियों (अर्थात् जड़ विश्व) को सम्भालता है उस ईश्वर को उत्पन्न होते हुए क्या किसी ने देखा है ? इस पृथ्वी पर जीवतत्व व उसका रक्त (अर्थात् घटक द्रव्य) तथा आत्मतत्व उस समय कहाँ थे ? और जिस (देव) को ये सारी बातें ज्ञात हैं उससे पूछने भी भला कौन गया था ? ।।४।।

सुन्दर परों से युक्त, एकत्र वास करने वाले तथा एक दूसरे के अभिन्न मित्र दो पक्षी एक ही वृक्ष के ऊपर बैठे हैं। उनमें से एक उस झाड़ के मधुर फलों का उपभोग करता है व दूसरा कुछ न खाते हुए केवल देखता रहता है ।।२०।।

सुन्दर परों वाले पक्षी अपने ज्ञानसामर्थ्य से अमरत्व का अंश जहां पहुँचाते रहते हैं वहाँ (अर्थात्) मुझ मूढ़ के अंग में, स्वतः विश्व का पालक ज्ञानरूप परमात्मा निवास करता है ।।२१।।

ऋग्वेद की इस धारणा को देखने पर यह सहज स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक लोगों के जगत् व जगदीश्वर विषयक सिद्धान्त कितने परिपूर्ण थे। उसके आगे के काल में भी उन तत्त्वसिद्धांतों में कोई महत्वपूर्ण अन्तर आया हुआ हम नहीं पाते। हाँ, ऋग्वेद की ओर देखने की दृष्टि ही यदि दूषित हो तो बात दूसरी। फिर तो निस्संदिग्ध बातें भी संदेहास्पद लगने लगती हैं।

असत् और सत्

ऋग्वेद के तत्वज्ञान विषयक सिद्धान्तों का प्रगटीकरण वैसे तो कई भिन्न भिन्न सूक्तों में हुआ है किन्तु विख्यात नासदीय सूक्त में उन सब सिद्धान्तों का इतना एकत्रित एवं सुव्यवस्थित मंडन हुआ है कि आगे के उपनिषदादि ग्रंथों में भी यह मंडन ज्यों का त्यों समुपस्थित किया गया है। मैं वह सम्पूर्ण सूक्त लोकमान्य तिलक के भाषांतर व अभिप्राय सहित यहां उद्धृत करता हूँ—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ।।१।।

तब अर्थात् मूलारंभ में असत् नहीं था, व सत् भी नहीं था। (ऐसी स्थिति में कैसे कहा जा सकता है कि) किसने (किसको) आवृत्त किया ? कहाँ किया ? व किसके सुख के लिए किया ? अगाध व गहन पानी (भी) था क्या ?

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनाऽऽस ॥२॥

उस समय मृत्यु अर्थात् मृत्युग्रस्त नाशवंतसृष्टि नहीं थी और इसलिए अमृत अर्थात् अविनाशी नित्य पदार्थ भी नहीं था। (उसी प्रकार) रात व दिन का भेद जानने का भी कोई साधन नहीं था। (जो कुछ था) वह एकाकी था तथा एक ही स्वधा से अर्थात् अपनी शक्ति के सहारे बिना वायु के श्वासोच्छ्वास करता हुआ (या दूसरे शब्दों में कहा जाय तो) स्फुरित हो रहा था। उसके सिवाय या उसके परे अन्य कुछ भी नहीं था।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥

सर्वत्र अंधकार था, आरम्भ में यह सब अन्धकार से व्याप्त (व) भेदाभेद विरहित पानी था (अथवा) आभु अर्थात् सर्वव्यापी ब्रह्म (आरम्भ में ही) तुच्छा अर्थात् मिथ्या माया से आच्छादित था ऐसा (यत्) जो (कहा जाता है सो) वह (तत्) एक मूल (ब्रह्म ही) तप की महिमा से (रूपान्तर से आगे इस रूप में) प्रगट हुआ था।

टीका—प्रारम्भ के इन तीन चरणों को स्वतन्त्र मानकर कितने ही इसका ऐसा विधानात्मक अर्थ लगाते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में "अन्धकार से व्याप्त पानी, अथवा तुच्छा से आच्छादित आभु (शून्य) था। पर हमारे मतानुसार वह गलत है। क्योंकि पहली दो ऋचाओं में जहाँ यह स्पष्ट विधान है कि मूलारंभ में कुछ भी नहीं था वहां उसी सूक्त में उसके बिल्कुल विपरीत यह कहा जाना कि आरम्भ में अन्धकार या पानी था, सम्भव नहीं। साथ ही ऐसी स्थिति में तीसरे चरण का 'यत्' शब्द निरर्थक मानना पड़ेगा। इसलिये तीसरे चरण के 'यत्' शब्द का चौथे चरण के 'तत्' शब्द से सम्बन्ध लगाकर हमने जो अर्थ लगाया है, वही मानना युक्तियुक्त होगा। जो यह कहते हैं कि मूलारंभ में पानी आदि पदार्थ थे, उनके लिए ही उत्तर के रूप में यह ऋचा इस सूक्त में आई है। और उसमें ऋषि यही कहना चाहते हैं कि तम, पानी आदि पदार्थ मूल नहीं अपितु एक ही ब्रह्म के आगे के विस्तार हैं। 'तुच्छ' व 'आभु' परस्पर प्रतियोगी शब्द हैं, इस कारण 'आभु' शब्द का अर्थ तुच्छ के विपरीत अर्थात् बड़ा या समर्थ होना चाहिए। ऋग्वेद में अन्य दो स्थानों पर भी यह शब्द आया है (ऋ० १०.२७.१४) जहाँ

सायणाचार्य ने यही अर्थ माना है। पंचदशी में (चित्र १२९, १३०) तुच्छ शब्द माया के लिए आया है (नृ० उत्त० ९ देखिये) । अतः आभु का अर्थ शून्य न होकर 'परब्रह्म' ही होना चाहिए। 'सर्वं आः इदम्' में 'आः' (अ+अस्) अस् धातु का भूतकालिक रूप है जिसका अर्थ 'आसीत्' होता है।

कामस्तदग्रे समवर्ततताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

(इसके) मन का जो रेत अर्थात् बीज प्रथमतः उत्पन्न हुआ वही आरम्भ में काम (अर्थात् सृष्टि निर्माण करने की प्रवृत्ति या शक्ति) बना। ज्ञाताओं ने अन्तःकरण में विचार कर बुद्धि द्वारा यह निश्चित किया कि (यही) असत् अर्थात् मूल परब्रह्म से सत् अर्थात् विनाशी दृश्यसृष्टि का (पहला) सम्बन्ध है।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम् अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

(यह) रश्मि याने धागा अथवा किरण इनके (बीच) आड़े आया; और यदि ऐसा कहें कि वह नीचे था तो वह ऊपर भी था। (इनमें से कुछ) रेतोधा अर्थात् बीजप्रद बने व (बढ़कर) बड़े हो गये। उनकी ही स्वशक्ति इस ओर व प्रयति अर्थात् प्रभाव परली ओर (व्याप्त) है।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेद यत् आबभूव ॥६॥

सत् का विसर्ग अर्थात् फैलाव किससे अथवा कहाँ से आया यह (इसकी अपेक्षा अधिक) प्र अर्थात् विस्तार से यहाँ कौन बता सकता है? कौन इसे निश्चयपूर्वक जानता है? देव भी इस (सत् सृष्टि के) विसर्ग के बाद के ही हैं अतः वह कहाँ से उत्पन्न हुई यह कोई जान ही नहीं सकता।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न दधे।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

(सत् का) यह विसर्ग अर्थात् फैलाव जहाँ से हुआ, अथवा वह निर्मित किया भी गया या नहीं, इसे परम आकाश में रहने वाला इस जगत् का अध्यक्ष (हिरण्यगर्भ) ही जानता होगा, अथवा न भी जानता हो (कौन जाने?)।

आँखों को अथवा सामान्यतः समस्त इन्द्रियों को गोचर होने वाले विकारी व विनाशी नामरूपात्मक नाना दृश्यों के जाल में न अटकते हुए, उसके परे भी कोई एक अमृततत्त्व विद्यमान है इसे ज्ञान दृष्टि से पहचानना ही समस्त वेदान्तशास्त्र का रहस्य है और इस नवनीत के गोले पर पहली ही छलांग

में उक्त सूक्त के ऋषि की बुद्धि जा पहुँची। इससे उनके अंतर्ज्ञान की तीव्रता स्पष्टतः परिलक्षित होती है। मूलारंभ में अर्थात् सृष्टि के नाना पदार्थों के अस्तित्व के पूर्व जो कुछ था वह सत् था या असत् था, मृत था या अमर था, आकाश था या पानी था, प्रकाश था या अंधकार था इत्यादि अनेक प्रश्न करने वालों से वाद न करते हुए एकदम इन सबके आगे छलांग लगाकर यह ऋषि प्रश्न करता है कि सत् व असत्, मर्त्य व अमर, अंधकार व प्रकाश, आच्छादक व आच्छाद्य, सुख देने वाला व सुख का अनुभव करने वाला आदि द्वैत की परस्पर सापेक्ष भाषा तो दृश्य सृष्टि के निर्माण के पश्चात् की है, किंतु सृष्टि के ये द्वन्द्व जब उत्पन्न ही नहीं हुए थे अर्थात् एक दूसरे का भेद ही जब नहीं था तब कौन किसे आच्छादित कर सकता था? इस कारण मूलारंभ में विद्यमान एकरस द्रव्य को सत् या असत्, अमृत या मृत्यु, आकाश या पानी, अंधकार या प्रकाश आदि परस्पर सापेक्ष कोई भी नाम देना उचित नहीं; जो कुछ था वह इन समस्त पदार्थों की अपेक्षा विलक्षण था तथा वह अकेला एक ही आरंभ में चारों ओर अपनी अपरंपार शक्ति से स्फुरित हो रहा था। उसे आच्छादित करने वाला दूसरा कुछ भी नहीं था, यह इस सूक्त के ऋषि ने आरम्भ में ही निर्भयतापूर्वक प्रतिपादित किया है। दूसरी ऋचा के क्रियापद 'आनीत्' में 'अन्' धातु का अर्थ है श्वासोच्छ्वास करना अथवा स्फुरण पाना और इसी धातु से प्राण शब्द की उत्पत्ति हुई है, परन्तु जो न सत् था न असत्, वह सजीव प्राणियों के समान श्वासोच्छ्वास करता होगा यह कैसे कहा जा सकता है? और श्वासोच्छ्वास के लिए वायु भी भला कहाँ से आयेगी? इसलिए 'आनीत्' पद के साथ ही अवातं अर्थात् बिना वायु के व 'स्वधया' अर्थात् अपने स्वतः की महिमा से, ये पद जोड़कर अद्वैतावस्था के इस अर्थ को कि मूलतत्त्व जड़ नहीं था, द्वैतवाद की भाषा में बड़ी युक्ति से इस तरह वर्णित किया है कि "वह एक बिना वायु के अर्थात् वायु की अपेक्षा न रखते हुए अपनी शक्ति से ही श्वासोच्छ्वास किया करता था, अथवा स्फुरित होता था।" उपनिषदों में परब्रह्म का वर्णन करते हुए **'नेति नेति', 'एकमेवाद्वितीयम्', 'स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः'** (छा० ७.२४.१) आदि जो वर्णन आये हैं वे इसी अर्थ के अनुवादमात्र हैं। इस सूक्त में जिस अनिर्वचनीय तत्त्व के बारे में यह कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में चारों ओर वही स्फुरित होता था, वही तत्त्व सृष्टि के प्रलय के पश्चात् भी शेष रहेगा यह स्पष्ट ही है। इसलिए गीता में परब्रह्म का वर्णन करते हुए थोड़े पर्याय से यह कहा गया है कि 'समस्त पदार्थों का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता' (गीता ८.२०) व आगे चलकर इसी सूक्त की भावना को व्यक्त करते हुए कहा है कि 'वह सत् भी नहीं है असत् भी नहीं है।' (गीता १३.१२) परन्तु यदि मूलारंभ

में ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था तो प्रश्न उठता है कि वेदों में ही ऐसे जो वर्णन आते हैं कि "आरम्भ में पानी, अंधकार व आभु व तुच्छ की युति थी," उनकी क्या व्यवस्था की जाय ? इसलिए तीसरी ऋचा में यह कवि कहता है कि जगत् के आरम्भ में अंधकार या अंधकार से आच्छादित पानी अथवा आभु (ब्रह्म) व उसे ढांकनेवाली माया (तुच्छ) के अस्तित्व के जो वर्णन हैं वे सब उस एक मूल परब्रह्म के, उसकी तप की महिमा से आगे चलकर हुए विस्तार के बाद के वर्णन हैं, मूलारंभ के नहीं। इस ऋचा के 'तप' शब्द में मूल ब्रह्म की ज्ञानमय विलक्षण शक्ति अभिप्रेत है जिसका वर्णन चौथी ऋचा में हुआ है। (मुं० १.१.६ देखिये)

"**एतावान् अस्य महिमा ऽतो ज्यायांश्च पुरुषः।**" (ऋ० १०.६०.३) इस न्याय के अनुसार (समस्त सृष्टि जिसकी महिमा है) वह मूल द्रव्य इन सबके परे व सर्वापेक्षा श्रेष्ठ एवं भिन्न है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। किन्तु यदि द्रष्टा व दृश्य, भोक्ता व भोग्य, अच्छादनकर्ता व आच्छाद्य, अंधकार व प्रकाश, मर्त्य व अमर आदि समस्त द्वैतों को परे रखते हुए यह निश्चित भी कर लिया कि एक निःसंग, चिद्रूपी, विलक्षण परब्रह्म ही मूलारंभ में था, तो भी जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस अनिर्वचनीय, निर्गुण, एकाकी एकत्व से आकाश, पानी आदि द्वंद्वात्मक, विनाशी, सगुण, नामरूपात्मक विविध सृष्टि अथवा इस सृष्टि की मूलभूत त्रिगुणात्मिका प्रकृति कैसे उत्पन्न हुई तब ऋषि को द्वैत की भाषा का ही प्रयोग करना पड़ता है और वह स्पष्ट रूप से कहता है कि यह प्रश्न मनुष्य की बुद्धि के परे है। चौथी ऋचा में मूल परब्रह्म को ही 'असत्' कहा गया है। परन्तु उसका अर्थ 'कुछ नहीं' नहीं लिया जा सकता क्योंकि दूसरी ऋचा में 'वह है' ऐसा स्पष्ट कहा गया है। इस सूक्त में ही नहीं, इतरत्र भी दृष्यसृष्टि को यज्ञ की उपमा देकर इस यज्ञ के लिए लगनेवाली समिधा, घृत आदि सामग्री कहां से लाई गई ? (ऋ० १०. १०३.३) अथवा घर का दृष्टान्त देते हुए मूल एक निर्गुण से आँखों को प्रत्यक्ष दिखनेवाली आकाश पृथ्वी की इस इमारत के लिए लकड़ी (मूल प्रकृति) कहां से आई ?—**किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः**—आदि गूढ़ प्रश्न ऋग्वेद व वाजसनेय संहिता में व्यावहारिक भाषा का अंगीकार करके ही पूछे गये हैं (ऋ० १०.३१.७; १०.८१.४; वाज० सं० १७.२०)। उस अकेले एक अनिर्वचनीय ब्रह्म के मन में सृष्टि निर्माण करने का कामरूपी तत्त्व किसी प्रकार उदित हुआ व वस्त्र के धागों के समान अथवा सूर्यप्रकाश के समान उसकी ही शाखायें तुरन्त नीचे, ऊपर व चारों ओर फैल गईं एवं सत् का यह समस्त विस्तार अर्थात् आकाश पृथ्वी का भव्य भवन खड़ा हो गया, यह जो इसी सूक्त की चौथी व पांचवीं ऋचा में कहा गया है (देखिये वाज० सं० ३२.७४) उसकी अपेक्षा इस प्रश्न का

अधिक समीचीन उत्तर देना सम्भव नहीं। इसलिए इस सूक्त के अर्थ का ही अनुवाद उपनिषदों के **"सोऽकामयत्", "बहु स्यां प्रजायेयेति"** (तै० २.६; छां० ६.२.३) (उस परब्रह्म को अनेक होने की इच्छा हुई) आदि वाक्यों में हुआ है (देखिये बृ० १.४)। अथर्ववेद में भी ऐसा ही वर्णन है कि समस्त सृष्टि के मूलभूत द्रव्य में से पहले 'काम' उत्पन्न हुआ (अथर्व० ९.२.१९)। परन्तु इस सूक्त की एक विशेषता है। निर्गुण से सगुण की, असत् से सत् की निर्द्वन्द्व से द्वन्द्व की अथवा असंग से संग की उत्पत्ति का यह प्रश्न मनुष्य की बुद्धि के लिए अगम्य होने के कारण साँख्यों के समान केवल तर्कवश होकर मूलप्रकृति के समान दूसरा कुछ स्वयंभू व स्वतन्त्र है ही नहीं, यह न कहकर, यह ऋषि कहता है कि "जो समझ में नहीं आता उसके बारे में कहो कि यह समझ में नहीं आता, किन्तु उसके लिए शुद्धबुद्धि से व आत्मप्रतीति से निश्चित किये हुए अनिर्वाच्य ब्रह्म की योग्यता दृश्य सृष्टिरूप माया को देकर परब्रह्म के सम्बन्ध की अद्वैतबुद्धि छोड़ देना न्याय्य नहीं।" और फिर हम यह भी देखते हैं कि प्रकृति को त्रिगुणात्मक स्वतन्त्र दूसरा पदार्थ मान लेने पर भी उससे सृष्टि का निर्माण होने के लिए उसमें प्रथमतः बुद्धि (महान्) अथवा अहंकार कैसे उत्पन्न हुआ यह प्रश्न उपस्थित होता ही है और उसका भी आखिर कोई उत्तर नहीं। ऐसी अवस्था में, जबकि यह दोष कभी टल ही नहीं सकता, प्रकृति को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता ही क्या? केवल इतना कहने मात्र से काम चल जायेगा कि मूलब्रह्म से प्रकृति अर्थात् सत् का निर्माण कैसे हुआ यह हमें ज्ञात नहीं। उसके लिए प्रकृति को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं। मनुष्य की बुद्धि की बात तो जाने दीजिए, देवताओं की बुद्धि भी यह बताने में असमर्थ है कि सृष्टि का आरम्भ कैसे हुआ क्योंकि देव भी आखिर दृश्य सृष्टि के आरम्भ के बाद ही उत्पन्न हुए हैं। अतः वे अपने पूर्वजों की बात कैसे जान सकते हैं? (देखिये गीता १०.२) अकेला एक हिरण्यगर्भ ही, जो देवताओं से भी अधिक पुरातन एवं श्रेष्ठ है, आरम्भ में **"भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"**—समस्त सृष्टि का 'पति' अर्थात् 'राजा' या अध्यक्ष था—यह प्रत्यक्ष ऋग्वेद (१०.१२१.१) में ही कहा गया है। ऐसी अवस्था में उसे यह बात ज्ञात न होगी यह कैसे कहा जा सकता है? और अगर उसे यह बात ज्ञात है तो उस बात को दुर्बोध कैसे माना जा सकता है? अतः इस प्रश्न का प्रथम औपचारिक उत्तर दिया गया कि 'हां, यह बात वह जानता होगा' और इसके तुरन्त बाद ही वह ऋषि, जो अपनी बुद्धि से ब्रह्मदेव के ज्ञान की भी थाह लगाने का उपक्रम कर रहा है, सशंक होकर कहता है, "अथवा न भी जानता हो, कौन कह सकता है?" क्योंकि वह भी तो आखिर 'सत्' की ही कोटि में आता है। इसलिए सत्-असत्, आकाश व पानी के पूर्व की बातों के लिए 'परम' शब्द

का प्रयोग करते हुए उसे परम आकाश में रहने वाला भले ही कह लें किन्तु फिर भी आखिर वह आकाश में तो रहता ही है। अतः आकाश में रहनेवाले इस अध्यक्ष को भी निश्चित ज्ञान कैसे हो सकता है ! किन्तु यह समझ में न आने पर भी कि एक असत् अर्थात् अव्यक्त व निर्गुण द्रव्य से विविध नामरूपात्मक सत् अर्थात् मूलप्रकृति का सम्बन्ध कैसे जुड़ा, वह ऋषि मूलब्रह्म को एक ही मानने की अपनी अद्वैतबुद्धि को नहीं छोड़ता। अचिन्त्य वस्तु के गहन अरण्य में मनुष्य की बुद्धि सात्त्विक श्रद्धा व निर्मल प्रतिभा के बल पर सिंह के समान निर्भयता से विचरण करती हुई किस प्रकार उसमें छिपी अतर्क्य बातों को खोज निकालती है, इसका यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। और सबसे अधिक आश्चर्यजनक तो यह है कि यह सूक्त **ऋग्वेद** में प्राप्त होता है ! इस सूक्त के विषय का आगे चलकर ब्राह्मण (तैत्ति० ब्रा० २.८.९), उपनिषद् व उसके आगे के वेदान्तशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों में तथा अर्वाचीन काल में पाश्चात्य देशों के कांट प्रभृति तत्त्वज्ञानियों के द्वारा सूक्ष्म रूप से परीक्षण किया गया है। किन्तु ऋषि की शुद्ध बुद्धि में इस सूक्त के जिन परम सिद्धान्तों का स्फुरण हुआ उन सिद्धान्तों को ही अधिक दृढ़, स्पष्ट एवं तर्क दृष्टया निस्संदिग्ध बनाकर प्रतिपक्षियों को विवर्तवाद सरीखे योग्य उत्तर देने के अतिरिक्त और कुछ कर सकना किसी के लिए भी सम्भव नहीं हो सका है और न आगे हो सकने की ही कोई विशेष संभावना है।

लोकमान्य के इस विवेचन को किसी पुष्टि की आवश्यकता नहीं। अब यह सहज ही ध्यान में आ जायेगा कि ऋग्वेद में **"नासदासीन्नोसदासीत् तदानीं"**, **"तुच्छेनाभ्वपिहितम्"**, **"आनीतवातं स्वधया तदेकं"** आदि शब्दों के द्वारा जो बात कही गई है वही बात उपनिषदों में भी **"सदेव सौम्येदमग्र आसीत् असद्वा इदमग्र आसीत्"**, **"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्"**, **"अप्राणोह्यमनाः शुभ्रः"**, **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्"** आदि शब्दों के द्वारा प्रतिपादित की गई है। और इस आधार पर हम कह सकते हैं कि वैदिक राष्ट्र का तत्वज्ञान ऋग्वेदकाल में ही सिद्धावस्था प्राप्त कर चुका था और वह तत्वज्ञान था—**"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।"**

अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि इस तत्वज्ञान का प्रत्यक्ष जीवनगठन के लिए उपयोग होता था या वह केवल बुद्धिविलास का ही साधन था। इसके साथ ही यह भी देखना आवश्यक है कि इस एकत्व के तत्वज्ञान में से ऋग्वेद में उपलब्ध होने वाले अनेक देवतावाद की उत्पत्ति कैसे हुई ? जगन्मिथ्यात्व की बात सुनने मात्र से ही आजकल कई लोग चौंक उठते हैं तथा आह्वानपूर्वक कहने लगते हैं कि इस अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'माया' शब्द कोई वेदों में दिखा तो दे। परन्तु श्री रानडे के ही

शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यहाँ वाद शब्द का नहीं, कल्पना का है तथा नानात्व का विस्तार मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय होने पर भी व्यावहारिक सत्ता (Commonsense view) व पारमार्थिक सत्ता (Scientific view) में परस्पर विरोध का कोई कारण नहीं है। यह बात ध्यान में रखी तो जगन्मिथ्यावाद वस्तुतः वाद का विषय हो ही नहीं सकता। भारतवर्ष में तत्वज्ञान केवल विचारों तक सीमित न रहकर प्रत्यक्ष जीवनगठन के कार्य में प्रयुक्त हुआ है। अनुभूतिवाद व तत्वज्ञान भारतवर्ष में एकात्मविषय माने जाते हैं। और वैदिक साहित्य का समंजस परिशीलन करने पर वहाँ भी हमें यही विशेषता दृष्टिगोचर होगी। अगले अध्याय में इस विषय पर ध्यान केन्द्रित करते हुए हम आर्यराष्ट्र की अंतरंग धारणा का स्वरूप देखने का प्रयास करेंगे।

३

वैदिक राष्ट्र का अनुभूतिवाद और भावजीवन

गत दो अध्यायों में हमने देखा कि विकसनावस्था के काल का भारतीय तत्त्वज्ञान सैद्धान्तिक दृष्टि से ऋग्वेद काल में ही सिद्धता प्राप्त कर चुका था। इस बारे में लोकमान्य तिलक सरीखे विचक्षण पुरुष से लेकर महर्षि अरविन्द, अण्णासाहेब पटवर्धन सरीखे तपस्वी द्रष्टा पुरुषों तक एकवाच्यता दिखाई देती है। लोकमान्य तिलक द्वारा नासदीय सूक्त का किया गया विवेचन हमने गत अध्याय में देखा ही है। ऋषि अरविन्द भी इस संबंध में कहते हैं कि "संहिता के कितने ही मंत्रों में श्रेष्ठ श्रेणी का तत्त्वज्ञान है यह अमान्य नहीं किया जा सकता। अत: यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि वैचारिक दृष्टि से बिल्कुल बाल्यावस्था में रहनेवाले लोगों को ऐसे उच्चतम सिद्धान्त का स्फुरण ही कैसे हुआ ? और चूंकि इस प्रकार के श्रेष्ठ विचार उनमें सहज रूप से ही उत्स्फूर्त हुए, अत: निर्विवाद रूप से हम यह कह सकते हैं कि उनकी तात्त्विक धारणा निश्चित ही श्रेष्ठ श्रेणी की रही होगी।" किंतु भारत में तत्त्वज्ञान की निर्मिति केवल मस्तिष्कप्रधान लोगों के बौद्धिक विलास के लिए ही नहीं हुई। भारतवर्ष में तत्त्वज्ञान का विचार पुरुषार्थ-मीमांसा के एक भाग के नाते हुआ है और यही उसके महत्व का कारण है। हमारे यहाँ तत्त्वज्ञान का विचार इसीलिए हुआ कि जीवन में कुछ विशेष बातें उत्पन्न करने के लिए हमें उससे मार्गदर्शन प्राप्त हो सके।

मानवी जीवन हेतुपूर्ण

भारतीय तत्त्वज्ञों की यह दृढ़ धारणा है कि मानवी जीवन सृष्टिकर्ता की जीव को एक विशेष देन है और इस कारण उसका उपयोग भी विशेष रीति से ही किया जाना चाहिए। इस सृष्टि में अनेक प्रकार की देहें हैं। किंतु समस्त विश्व को वशीभूत कर सकने वाली महान् प्रतिभा एवं बुद्धिशक्ति का आगार नर-देह ही उन सब में सृष्टिकर्ता की सर्वोत्तम कलाकृति है। सच पूछा जाए तो दुबले शरीर के कारण मनुष्य इतर प्राणियों की अपेक्षा अधिक अशक्त व अरक्षित है। किंतु आज वह यह सोचकर कि हिंस्र पशु कहीं बिल्कुल ही नष्ट न

हो जायें, उन्हें जीवनदान देने की योजना बनाता है। इसी से हम कल्पना कर सकते हैं कि अन्य सभी सामर्थ्यों की अपेक्षा बुद्धि का सामर्थ्य वास्तव में कितना श्रेष्ठ है तथा उसके कारण मनुष्य को इस सृष्टि में कितना श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है। और जिसने यह श्रेष्ठ शक्ति प्रदान की है उसकी ऐसी इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि इसका उपयोग मनुष्य किसी विशेष ध्येय की पूर्ति के लिए करे। यह देन निरर्थक नहीं है और इस कारण मानवी जीवन निरर्थक एवं हेतुशून्य नहीं हो सकता। वैसा मानना मूर्खता की पराकाष्ठा ही होगी। केवल अपनी पशुवासना को ही पूर्ण करना इस जीवन का हेतु कभी नहीं हो सकता। भारतीय तत्त्वज्ञों के अंतःकरण में तो यह धारणा अच्छी तरह दृढ़-मूल हो गई है। समर्थ रामदास कहते हैं :—

मोले अनर्घ्य रत्नें येतीं। परी चिन्तामणी न ये हाती।
तेवि बहुत योनियें जन्म होती। परी मनुष्यदेह प्राप्ती दुर्लभ ॥
म्हणून नरदेह श्रेष्ठ। नाना देहा मध्ये वरिष्ठ।
जयाचेनि चुके अरिष्ट। जन्म मरणाचे ॥
म्हणून नरदेह निधान। जेणे ब्रह्मसायुज्यी घडे गमन।
देववांछिती मनुष्यपण। देवाचें स्तवन नरदेहा ॥

(मूल्य देकर कीमती रत्न तो प्राप्त हो सकते हैं किन्तु चिंतामणि हाथ नहीं लगता। वैसे ही अनेक योनियों में जन्म होता है किन्तु मनुष्यजन्म दुर्लभ है। इसलिए नरदेह सब देहों में श्रेष्ठ है क्योंकि इसके द्वारा जन्ममरण के चक्र से सदा के लिए मुक्त हुआ जा सकता है। सब प्रकार के कल्याण का साधन यह नरदेह ही है। देवता भी उसे पाने की लालसा करते हैं क्योंकि नरदेह के माध्यम से ही ब्रह्म के साथ एकरूपता प्राप्त की जा सकती है।)

श्री समर्थ को जिन एकनाथ जी महाराज से कवित्वस्फूर्ति प्राप्त हुई थी, वे तो और भी अधिक जोरदार शब्दों में कहते हैं—

भरतखंडी नरदेह प्राप्ती। हे तो परम भाग्याची संपत्ती।
तेथहि विवेकू परमार्थी। त्याच्या वशवर्ती मी परमात्मा।
नरदेह परमपावन। जो भक्तिज्ञानाचे आयतन।
जेणे साधे ब्रह्मज्ञान। तो धन्य धन्य नरदेह।

(भरतखंड में नरदेह की प्राप्ति होना परम भाग्य का लक्षण हैं। और यदि नरदेह के साथ पारमार्थिक विवेक भी होवे तब तो परमात्मा उसके अधीन हो जाता है। भक्ति और ज्ञान का आगार नरदेह सबसे अधिक पवित्र हैं क्योंकि उसी से ब्रह्म को पाया जा सकता है।)

श्रीमद्भागवत पुराण में प्रत्यक्ष परमेश्वर के श्रीमुख से ही ये शब्द निसृत हुए हैं—

एक द्वि त्रि चतुष्पादो बहुपादस्तथा पदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टा तासां मे पौरुषी प्रिया ।।
—भागवत ११.७.१०

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैर्दुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मवलोकधिषणं मुदमाप देवः ।।१०।।
लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसंभवान्ते मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
पूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावत् निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ।।११।।
—भागवत स्कंध ११

(मैंने एक पैर, दो पैर, तीन पैर, चार पैर व अनेक पैर वाले तथा बिना पैर वाले भी अनेक नगरों का निर्माण किया है किन्तु उन सब में मनुष्य देह की यह नगरी ही मुझे अत्यन्त प्रिय है। अपनी श्रेष्ठ व अनादि आत्मशक्ति से वृक्ष, सरीसृप, मत्स्य, पक्षी आदि अनेक शरीररूपी नगरों का निर्माण करने पर भी परमात्मा को प्रसन्नता नहीं हुई। किन्तु नरदेह का निर्माण करने पर उसे अतिशय आनंद हुआ क्योंकि प्रत्यक्ष परब्रह्म का साक्षात्कार कर सकने वाली बुद्धि की देन केवल इसी देह को प्राप्त हुई है। अनेक प्रकार की योनियों में भ्रमण करने के पश्चात् तब कहीं यह अतिशय दुर्लभ मनुष्य देह प्राप्त होती है। यह देह अनित्य है तथा मृत्यु उसके पीछे सतत घूमती रहती है। किन्तु परम पुरुषार्थ केवल इसी शरीर के द्वारा संभव है। अतः धैर्यशील मनुष्य को चाहिए कि वह सतत प्रयत्न के द्वारा परम पुरुषार्थ की प्राप्ति कर अपने जन्म को सफल बनाये।)

तत्त्वज्ञान का प्रयोजन--जीवन गठन

इस प्रकार मनुष्य शरीर परमात्मा की एक विशेष देन होने के कारण मनुष्य को उसका अधिक से अधिक उपयोग कर लेना चाहिए। क्योंकि भारतीयों के विश्वासानुसार केवल इसी निमित्त मनुष्य को यह श्रेष्ठ निधि प्राप्त हुई है। ऐसी स्थिति में मनुष्य का पहला कर्तव्य यह है कि वह स्वयं को दी गई इस देन का कारण ढूंढ निकाले। और इसके लिए जब वह अग्रेसर होता है तब उसके सामने तदनुषंगिक अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जैसे जीवन क्या है ? हम स्वत: कौन हैं ? यह जग क्या है ? उसका हमारा संबंध क्या है ? इस जगत् का कोई नियन्ता है या नहीं ? वह नियन्ता बुद्धिशक्तिशाली है या ज्ञानशक्तिशाली ? उसका क्या स्वरूप है ? उसका हमारा संबंध क्या है? आदि। और इन प्रश्नों का उत्तर ही तत्त्वज्ञान को जन्म देता है। भारतीय तत्त्वज्ञान इसी तरह जीवन का हेतु व ध्येय निश्चित करने की लालसा के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है और इसी कारण उस तात्त्विक ध्येय को प्रत्यक्ष जीवन में उतारकर उन तत्त्वों के अनुरूप जीता जागता

आदर्श उपस्थित करना ही हमारे यहाँ तत्त्वज्ञान का वास्तविक प्रयोजन एवं मानवी जीवन का श्रेष्ठ साध्य माना गया है। तात्पर्य यह कि परमपुरुषार्थ क्या है इसका निर्णय तत्त्वज्ञान के द्वारा होता है और चूंकि उस तत्त्वज्ञान को प्रत्यक्ष जीवन में उतारना मनुष्य जीवन का परम कर्तव्य माना गया है इस कारण वह तत्त्वज्ञान केवल बौद्धिक चर्चा का विषय नहीं रह जाता; प्रत्यक्ष अनुभूति व प्रयोग का विषय बन जाता है। भारतीय तत्त्वज्ञान की यही विशेषता है और इसी में उसका पाश्चात्य तत्त्वज्ञान से मूलभूत अंतर भी है। जिस प्रकार भारतीयों ने विश्लेषणात्मक पद्धति से तत्त्वमीमांसा की है उसी प्रकार पाश्चात्यों ने भी अपने विचारों का मंडन किया है एवं उसमें स्पिनोजा, बंडले, कॉन्ट, व्हाईटहेड प्रभृति तत्वज्ञों के विचार भारतीय तात्त्विक विचारों से मेल भी खाते हैं; किंतु इतना होते हुए भी उनके यहाँ यह बौद्धिक मीमांसा के अतिरिक्त प्रत्यक्ष जीवन गठन का विषय नहीं बन पाया है। इसीलिए पाश्चात्य तत्त्वविचारों में अग्रणी माना जाने वाला प्लेटो अपने आदर्श तत्वज्ञ सम्राट् का चित्र उतारते समय वासनागंधविहीनता की कल्पना न कर सका; और इसीलिए उसने इस भय से कि कहीं ऐसे तत्त्वज्ञों के उपनिवेश भी स्वार्थ के ही क्रीड़ास्थल न बन जायँ, समान भोजन व समान प्रजोत्पादन की विचित्र कल्पना का पुरस्कार किया। किंतु भारतवर्ष में इस बात पर विश्वास नहीं किया गया कि केवल ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य जीवन आदर्श हो सकता है जैसा कि सोक्रेटिस, प्लेटो अथवा आधुनिक पाश्चात्य तत्त्वज्ञों का मत है। ज्ञान से केवल आदर्श की जानकारी होती है। किन्तु उसे प्रत्यक्ष जीवन में उतारने के लिए अलग से तपस्या एवं साधना की आवश्यकता होती है। रावण भी महान् ज्ञान संपन्न था। महर्षि वाल्मीकि ने उसके संबंध में प्रत्यक्ष श्रीराम के द्वारा ही ये शब्द कहलवायें हैं यथा—"**एषोऽहिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तविद् ।**" परन्तु केवल इतने से ही लोगों के धनापहरण का उसका क्रम कभी नहीं छूटा और न स्त्रीलावण्य का शिकार करने की उसकी प्रवृत्ति में कभी न्यूनता आई। इतने बड़े ज्ञान के द्वारा भी उसका पशुभाव कभी विनष्ट नहीं हुआ। केवल ज्ञान मात्र से कुछ नहीं होता है, इसका मूर्तिमंत उदाहरण दुर्योधन के निम्नलिखित उद्गारों में प्रतिबिंबित होता है—"**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः। जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।।**" (मैं जानता हूँ कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है। परन्तु धर्म की ओर मेरी प्रवृति नहीं है और अधर्म से मेरी निवृत्ति नहीं है।) इस प्रकार के ज्ञानसंपन्न लोगों की भारतीय तत्त्वज्ञों ने सदैव हँसी उड़ाई है। श्रीमद्भागवत में शुक्राचार्य कहते हैं—"**कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव। पण्डितास्तु कलत्रेण रमन्ते महिषा इव। पुत्रस्योत्पादने दक्षा अदक्षा मुक्तिसाधने ।।**" (कलियुग में वेदान्ती तो कई होते हैं किंतु लोकसंख्या की वृद्धि के अपने सांसारिक कार्य में दक्ष रहने के

अतिरिक्त प्रत्यक्ष मुक्तिसाधन के कार्य में वे सर्वथा अपात्र होते हैं और इस कारण उनके द्वारा की जाने वाली तत्त्वज्ञान की बड़बड़ होली के अवसर पर बालकों द्वारा मचाई जाने वाली हुल्लड़ के समान ही निरर्थक होती है।) यही कारण है कि मुंह से विशुद्ध तत्त्वज्ञान व विश्वबंधुत्व की मीठी मीठी बातें करने वाला किंतु बगल में भयंकर नरमेध करने वाली छुरी दबाये रखने वाला स्टालिन अथवा जिह्वालौल्य का शिकार बना हुआ कॉन्ट भारत का आदर्श नहीं हो सकता। बुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान का सिद्धान्त ग्राह्य होने के पश्चात् हृदय में पैठकर अस्थिमज्जागत होने के लिए तथा शरीर के कण-कण में समस्त प्राणिमात्र में एकमेव परब्रह्म का दर्शन करने वाला भाव व्याप्त होकर, उस भाव के कारण दुःख एवं आपत्ति के पहाड़ टूटते रहने पर भी सबसे समानता का व्यवहार करने वाला अचल देह स्वभाव बनने के लिए अनेक पीढ़ियों के संस्कार, इंद्रियनिग्रह, दीर्घोद्योग, ध्यान, उपासना आदि अनेक प्रत्यक्ष साधनों की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से भारतीय तत्त्वज्ञान प्रत्यक्ष साक्षात्कार अथवा जीवन गठन का विषय है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि हमारे यहाँ अनुबन्धचतुष्टय के बिना किसी को केवल उसकी बुद्धि के कारण ही तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश नहीं मिलता। अनुबन्धचतुष्टय का अर्थ है अलग अलग शास्त्रों के अधिकारी पुरुषों व साधनों का निर्देश। भगवत्पूज्यपाद श्री मदाद्यशंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में पहले ही सूक्त का भाष्य करते हुए कहा है कि **"साधनचतुष्टयसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्या नित्यानित्यवस्तु-विवेकः, इहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमादिसाधनसंपत्मुमुक्षुत्वं च एषु हि सत्स्वेव ब्रह्मजिज्ञासाया अधिकारी भवति नान्यथा।"** (नित्य व अनित्य वस्तुओं का विवेक, इस लोक व परलोक में फलभोग के संबंध में वैराग्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान व श्रद्धा इन छः बातों का प्रत्यक्ष सम्पादन व मुक्ति की आत्यंतिक इच्छा, ऐसे साधन चतुष्टयों का अर्जन करने के बाद ही साधक को ब्रह्मविचार का प्रारम्भ करना चाहिए।)

तत्त्वज्ञों द्वारा प्रत्यक्षानुभूति

पुरुषार्थ विचार व तत्त्वज्ञान का ऐसा संबंध होने के कारण ही भारतवर्ष में तत्त्वज्ञान का पर्यवसान अनुभूति के रूप में हुआ। अत्याधुनिक काल से लेकर उपनिषद् काल तक इस अनुभूतिवाद का सुसूत्र आविर्भाव हम देखते हैं। भारतीयों ने तत्त्वों का केवल चिंतन ही नहीं किया अपितु उन्होंने प्रत्यक्ष कुछ देखा, स्वयं उसका अनुभव किया और इतना ही नहीं, वे स्वयं भी कुछ बन गये। विख्यात रमण महर्षि ऐसे ही प्रत्यक्षदर्शी द्रष्टा पुरुष थे। ऋषि अरविन्द घोष ऐसे ही सिद्ध पुरुष थे। महर्षि अरविन्द के आश्रम में उनका सिद्धि दिन मनाने की प्रथा है। ऐसा कहते हैं कि उस दिन उन्हें साक्षात्कार

हुआ था। त्रिखंडकीर्ति स्वामी विवेकानन्द भी ऐसे ही साक्षात्कारी पुरुष थे। उनके चरित्रकार श्री सत्येन्द्रनाथ मजुमदार ने अपने ग्रंथ में लिखा है कि विवेकानन्द जी को स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने प्रत्यक्ष समाधि का साक्षात्कार करवाया तथा आगे चलकर उस विशिष्ट अनुभूति को उन्हें सौंपकर उन्होंने उनके हाथों कार्य संपादन करवाया। स्वत: श्री विवेकानन्द भी यह कहा करते थे कि "मैंने हिंदु धर्म के परम सत्य का साक्षात्कार किया है।" उनके सद्गुरु युगावतार श्री रामकृष्ण परमहंस देव तो ऐसी अनुभूति के मानो आगार ही थे। समस्त धर्मों के चरम सत्य का उनको साक्षात्कार हुआ था। उनके चरित्र में ऐसा वर्णन है कि साधन मार्गों का अंतिम लक्ष्य उन्होंने प्रत्यक्ष साध्य किया था। स्वयं श्री रामकृष्ण परमहंस अपने चरमसत्य की अनुभूति के संबंध में महिमाचरण नाम के अपने एक भक्त से बोलते हुए कहते हैं—"लीला से नित्य में लीन होना, स्थूल, सूक्ष्म और कारण से महाकारण में लीन होना, जागृत स्वप्न और सुषुप्ति से तुरीय में लीन होना। यह भी जैसे घण्टा बजा, मानों महासमुद्र में एक वजनदार चीज गिरी, और तरंगों का उठना शुरु हुआ, नित्य से लीला का आरंभ हुआ, महाकारण से स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर का उद्भव हुआ। उसी तुरीय से जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति सब अवस्थाएं आ गई। फिर महासमुद्र की तरंग महासमुद्र में ही लीन हो गई। नित्य को लेकर उतरते हुए लीला मिलती है और लीला को लेकर चढ़ते हुए नित्य मैं टंकार की उपमा दिया करता हूँ। **मैंने यह सब यथार्थरूप में देखा है। मुझे उसने दिखाया है। चित् समुद्र है। उसका ओर-छोर नहीं है। उसी से ये सब लीलाएं उठी हैं और फिर उसी में लीन हो गई हैं।** चिदाकाश में करोड़ों ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होकर वे फिर उसी में लीन हो गये हैं। तुम्हारी पुस्तक में क्या लिखा है यह सब मैं नहीं जानता।" (श्री रामकृष्ण वचनामृत, द्वितीय भाग—अनुवादक पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, पृ० ५६५)

इस अत्याधुनिक तत्त्वज्ञ ने अपनी अनुभूति का जो वर्णन किया है वही संतश्रेष्ठ तुकाराम महाराज ने भी अपनी अभंग वाणी के द्वारा बताया है। महाराज कहते हैं- –

आपुलें मरण पाहिलें म्या डोला।
जो जाला सोहला अनुपम्य ॥१॥

आनन्दे दाटली तिन्ही त्रिभुवनें।
सर्वात्मकपणें भोग झाला ॥२॥

एकदेशी होतों अहंकारें आथिला।
त्याच्या त्यागें झाला सुकाल हा ॥३॥

फिटले सुतक जन्ममरणाचें।
मी माझ्या संकोचें दूरी जालों ॥४॥
नारायणें दिला वसतीस ठाव।
ठेवूनियां भाव ठेलों पायीं ॥५॥
तुका म्हणें दिलें उमटूनि जगी।
घेतलें तें अंगी लावूनियां ॥६॥
आनंदाचे डोही आनंदतरंग।
आनंदचि जग आनंदाचें ॥७॥
काय सांगों झालें काहीचिया बाही।
पुढे चाली नाहीं आवडीनें ॥८॥
गर्भाचे आवडी मातेचा डोहला।
तेथींचा जिव्हाला तेथें बिंबे ॥९॥
तुका म्हणें तैसा ओतलासे ठसा।
अनुभव सरिसा मुखा आला ॥१०॥

(मैंने अपनी मृत्यु अपनी आँखों से देखी है। वह बड़ा ही आनंद का समय था। आनन्द से त्रिभुवन भर गया था और सर्वात्मकता की स्थिति ही उस आनन्द का स्वरूप था। पहले तो केवल अहंकार के कारण मैं संकुचित था, उसका त्याग करने पर ही इस स्थिति को प्राप्त हुआ। जन्ममरण का जंजाल छूट गया और मेरी संकुचितता नष्ट हो गई। परमेश्वर ने ही मुझे इस स्थिति में पहुँचाया है और इसलिए मैंने अपना मस्तक उसके ही चरणों पर रख दिया है। तुकाराम कहते हैं कि जगत् में जो अनुभव मुझे आया है वही मेरे जीवन में भी प्रगट हुआ है। आनंद के गहरे जलाशय में आनन्द की ही तरंगे हैं और समस्त जगत् आनंदमय है। अब क्या होगा यह कहना असंभव है। वास्तव में आगे कुछ कहना ही असंभव है। जिस प्रकार कोई गर्भवती स्त्री ही अपने गर्भ के बारे में जानती है तथा उसके प्रति वात्सल्यभाव रखते हुए मन ही मन आनंदित होती है उसी प्रकार इस समय मेरी जो अवस्था है उसे केवल मैं ही जानता हूँ। मैंने उसे केवल शब्दाकार दिया है।)

उनके ही समकालीन श्री समर्थ रामदास स्वामी ने भी अपनी अनुभूति का वर्णन अपने ग्रंथों में किया है। उनका कहना है कि उनका ग्रंथराज दासबोध इस प्रकार का अनुभव प्रदान कर सकता है। वे कहते हैं—**"येथें प्रत्यासी कारण। प्रत्ययो पहावा।"**

श्री समर्थ को कवित्व की स्फूर्ति प्रदान करने वाले श्री एकनाथ महाराज भी अपने आत्मानुभव का वर्णन अपने साहित्य में स्थान स्थान पर करते हैं। **वे कहते हैं—**

तो म्या देखिला जनार्दन । देखितांच गेला भवभ्रम ।।
सुख झाले अनुपम्य घन । पावलों सदन मोक्षाचें ।।
मस्तकीं लागतां तयाचा करू । न मोडतां सृष्टीचा वेव्हारु ।।
सर्व झालें शून्याकारू । तेजें अंबर दाटलें ।।
तया तेजाचा पारू । नेणती ब्रह्मा हरिहरू ।।
वेद राहिले मौन्याकारु । श्रुतीसी विचारू पडिलासे ।।
तयानें काय बाणावे । कवणा उपमेनें आणावे ।।
त्याविण दुजे देखावे । तरी सांगावे साक्षित्वे ।।

(मैंने उस जनार्दन को प्रत्यक्ष देखा । उसे देखते ही सारे भव भ्रम दूर हो गए और अत्यंत सुख प्राप्त हुआ । उसके कारण मुझे मोक्ष मिला । मेरे मस्तक पर उसका हाथ लगते ही सृष्टि का समस्त व्यवहार नष्ट न होने पर भी समस्त जगत् मुझे शून्यवत् प्रतीत होने लगा और तेज से समस्त आकाश भर गया । उस तेज का अंत ब्रह्मा, विष्णु व महेश भी नहीं पा सकते । वेद भी उस संबंध में मौन हैं व श्रुति सोचने में पड़ गई है । उसका वर्णन कैसे किया जाय व उसे किसकी उपमा दी जाए, क्योंकि अन्य जो कुछ भी दिखाई देता है उस सबका अस्तित्व उसके ही कारण है ।)

एकनाथ जी महाराज जिन्हें अपना स्फूर्तिकेन्द्र मानते थे वे भागवत धर्म की प्रतिष्ठापना करने वाले व माउली नाम से सबके हृदयों में अधिष्ठित होने वाले श्री ज्ञानेश्वर महाराज अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं—

योगियां दुर्लभ तो म्यां देखिला गे साजणी ।
पाहतां पाहतां मना न पुरे घणी ।।धृ०।।
देखिला गे माये देवांचाहि देव ।
फिटला संदेह निमालें दुजे पण ।।१।।
अनन्तवेषें अनंतरूपें देखिले म्यां त्यासी ।
बाप रखुमादेवीवरू खूण बाणली कैसी ।।२।।

"हे सखी, (अपनी मनोवृत्ति को संबोधित करते हुए) योगियों को भी जो दुर्लभ है उसे मैंने देखा है तथा उसे देखते रहने पर भी मन की तृप्ति नहीं हुई है । मैंने देवों के भी देव को देखा है व उसके कारण मेरे मन का संदेह व द्वैत भाव नष्ट हो गया है । मैंने उसे अनंत रूपों व अनन्त वेषों में देखा है । विट्ठल की वह मूर्ति मेरे मन में समा गई है ।"

श्री ज्ञानेश्वर सरीखे शब्दप्रभु ने यदि ईश्वर के संबंध में विचार मात्र किया होता तो वैसा कहने में वे संकोच न करते । परन्तु 'विचार किया' की जगह उन्होंने 'देखा' (देखिलें) शब्द का ही प्रयोग किया है जो अनुभूतिवाद के

प्रकाश में स्पष्टतः साभिप्राय लगता है। "**चिदानन्दरूपः शिवोऽहम् शिवोऽहम्**" कहने वाले श्रीमदाद्यशंकराचार्य, प्रत्यक्ष वल्लभाचार्य के भी स्फूर्तिस्थान बंगाल के साक्षात्कारी महापुरुष भगवान श्री चैतन्य महाप्रभु, संत श्री तुलसीदास जी महाराज व समस्त संप्रदायों के विविध आचार्य आदि आस्तिक दर्शनकारों में तो अनुभूतिवाद के चिह्न मिलते ही हैं, बौद्ध, जैन, महानुभाव आदि अवैदिक संप्रदायों व तंत्रोपासना के समस्त मार्गों में भी यही अनुभूतिवाद परिलक्षित होता है। बुद्ध के दो, हीनयान व महायान, पंथ प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त बुद्धधर्म में '**जेंद बुद्धिस्म**' नाम का एक गूढ़ सम्प्रदाय भी है जिसमें अपने यहाँ के समान ही "**नैषा मतिस्तर्केण आपनीया**" अथवा Reason is bar इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना गया है कि केवल बुद्धि से परमतत्व का आकलन नहीं हो सकता और इस कारण बुद्धि को थकाकर अन्तःकरण को जागृत करने का एक विशेष साधनमार्ग उन्होंने निकाला है जिसमें कुछ विशिष्ट गिने चुने लोगों को ही प्रवेश प्राप्त होता है। इस '**जेंद**' शब्द का मूल अपने यहाँ का 'ध्यान' शब्द है। तात्पर्य यह कि भारतवर्ष में उत्पन्न ऐसा एक भी तत्व-सम्प्रदाय नहीं है जिसमें अनुभूतिवाद का आविष्कार न हो व जिसमें उस तत्वज्ञान के अनुरूप प्रत्यक्ष जीवन ढालने वाले साक्षात्कारी पुरुष न हों। साथ ही इन समस्त सम्प्रदायों में एक विशेषता और है। और वह यह कि उन उन सम्प्रदायों में प्रवेश करने वाला कोई भी साधक योग्य मार्गदर्शन के नीचे विशिष्ट साधना करते हुए चरम लक्ष्य का साक्षात्कार कर सकता है। साक्षात्कार केवल प्रेषित व्यक्ति (पैगम्बर) को ही होगा व बाकी के लोगों को केवल उनके कथन पर विश्वास मात्र करना चाहिए, यह पद्धति भारतवर्ष की नहीं है।

गीता में अनुभूतिवाद

ऐतिहासिक कालखंड के ये जैसे उल्लेख हमने देखे, वैसे ही उल्लेख हमें प्रागैतिहासिक काल के तत्त्वज्ञान संबंधी ग्रन्थों में भी देखने को मिलते हैं। गीता की पूर्णता ग्यारहवें अध्याय के विश्वरूपदर्शन के बिना नहीं हो सकती और बुद्धिवाद को दाद न देने वाला पार्थ विश्वरूपदर्शन की प्रत्यक्ष अनुभूति के बाद '**करिष्ये वचनं तव**' कहता है यह रहस्य गंभीरतापूर्वक विचार करने योग्य है। लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य को प्रसिद्ध करवाने के पश्चात् उसकी पहली प्रति महर्षि अण्णासाहेब पटवर्धन के पास भेजी। अण्णासाहेब के पास उस ग्रंथ के पहुँचते ही उन्होंने एक निकट के संबंधी से कहा कि "अरे, देख तो, इसने ग्यारहवें अध्याय के संबंध में क्या लिखा है। क्योंकि उसके संबंध में यदि ठीक लिखा है तो बाकी सब ठीक ही होगा।" अण्णासाहेब के इन उद्‌गारों का मर्म यही है कि वे यह जानना चाहते थे कि गीता पर लिखने वाले लेखक के ध्यान में यह बात आई या नहीं कि तत्त्वज्ञान केवल मस्तिष्क प्रधान चर्चा का विषय नहीं है, अनुभूति का विषय है।

उपनिषदों में अनुभूतिवाद

यह जो परम्परा गीता से लेकर रामकृष्ण, रमण, अरविंद पर्यन्त हमने देखी उसी परम्परा के प्रकाश से वेदों का शीर्ष माने जाने वाले उपनिषदों के कोने कोने भी समुद्भासित हुए हमें दिखाई देते हैं। उपनिषदों में यह स्पष्ट विधान है कि तत्त्वज्ञान का तात्पर्य प्रत्यक्ष जीवन में उतारना चाहिए। ऋषि कहते हैं—

आत्मानं चेत् विजानीयात् अयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।

(मैं ही परब्रह्म हूँ, यह आत्मज्ञान होने पर मनुष्य फिर किसके लिए व किस इच्छा से इस सांसारिक ताप से तप्त होगा! एकत्व का ज्ञान होने पर फिर वहाँ काहे का शोक व काहे का मोह!) बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य व मैत्रेयी के संवाद में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मज्ञान का उपदेश देते हुए कहते हैं— "**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**" अर्थात् आत्मा को प्रत्यक्ष देखो। आत्मा के दर्शन की क्रिया श्रवण अर्थात् सुनने से, मनन अर्थात् विचार करने से व निदिध्यासन अर्थात् अखंड अनुसन्धानरत रहने से भिन्न है, यह स्पष्ट करने के लिए ही उपनिषदों में कहा गया है कि ये सारी क्रियाएं आत्मदर्शन के लिए आवश्यक हैं। ऋषि कहते हैं—"**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यश्च**" अर्थात् हे मैत्रेयी, आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव लेना चाहिए और इसके लिए उसका श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए व नित्य अनुसंधान करना चाहिए। इस प्रकार के प्रत्यक्ष आत्मदर्शन द्वारा उत्पन्न होनेवाली साम्यस्थिति के कारण किस प्रकार कर्मातीत स्थिति प्राप्त होती है, इसका विवेचन करते हुए इन्द्र कहते हैं— "**न तस्य लोमाऽपि मीयते अपि मातृवधेन पितृवधेन ब्रह्मवधेन आचार्यवधेन**" (मातृवध, पितृवध, ब्रह्मवध या प्रत्यक्ष गुरु के वध से भी उसका बाल बाँका नहीं हो सकता।) ऐसे अनुभवात्मक आत्मज्ञान को प्राप्त न करने वाले गृहस्थ को उपनिषदों ने स्पष्ट शब्दों में '**आत्महन्**' अर्थात् आत्महन्ता कहा है। इस अनुभूतिवाद के लिए पाश्चात्यों ने Mysticism अर्थात् रहस्यवाद शब्द की योजना की है। और उनके लिए यह रहस्य होना स्वाभाविक भी है क्योंकि उनके तत्त्वज्ञान का अनुभूतिशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है और न उनकी तत्त्वमीमांसा भारतीयों के समान पुरुषार्थमीमांसा का अंग ही है। ब्रह्म की प्रत्यक्ष प्राप्ति के पश्चात् जिस परम सुख की प्राप्ति होती है वह सर्वश्रेष्ठ, कभी न समाप्त होने वाला व बाह्य परिस्थिति निरपेक्ष स्वयंपूर्ण सुख होता है। उपनिषदों में कहा है—"कुलीन, सुशिक्षित, विचक्षण, बलिष्ठ व स्थिर बुद्धि के तरुण को इस समस्त सुवर्णमय पृथ्वी के मिलने से जो

आनन्द होगा वह मानुष आनन्द है। ऐसे सौ आनन्द मिलकर एक मनुष्य-गंधर्व का आनन्द होता है, सौ मनुष्यगंधर्वों का आनन्द मिलकर एक देवगंधर्व का आनन्द होता है। उसी प्रकार सौ देवगंधर्वों का आनन्द मिलकर एक पितृ-आनन्द और सौ पितृ-आनन्द मिलकर एक स्वयंसिद्ध देव का आनन्द बनता है। सौ स्वयंसिद्ध देवों का आनन्द एक कर्मसिद्ध देव के आनन्द के बराबर है और सौ कर्मसिद्ध देवों का आनन्द सबसे श्रेष्ठ देव का आनन्द है। ऐसे सौ देवों के आनन्द मिलकर एक इन्द्र के आनन्द के बराबर होते हैं, सौ इन्द्र के आनन्द एक बृहस्पति के आनन्द के बराबर, सौ बृहस्पति के आनन्द एक प्रजापति के आनन्द के बराबर व सौ प्रजापति के आनन्द एक ब्रह्मानन्द के बराबर होते हैं। जिन ऋषियों की समस्त वासनायें नष्ट हो गई हैं उन्हें ये आनन्द क्रमशः व उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रमाण में प्राप्त होते जाते हैं।"

आत्मानुभूति के साधन

उपर्युक्त उद्धरण में उत्कृष्ट रीति से यह दिखाया गया है कि भौतिक सुख के मापदण्ड से आत्मानुभव का सुख कभी नापा नहीं जा सकता। इस प्रकार की श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो साधन आवश्यक हैं उनका वर्णन भी उपनिषदों में किया गया है। उपनिषदों के कुछ उल्लेख ही मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ जिससे उपनिषदों में विद्यमान अनूभूतिवाद की स्पष्ट कल्पना आ जाये।

भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

—मुं० २.२.८

आनंदं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥

—तै० २.९

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्ये अनात्मे अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सो अभयं गतो भवति॥

—तै० २.७

य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः विशोको विजिघत्सो अपिपासः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति। (छांदोग्य ८.७.१) **ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमवेत् अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत्सर्वमभवत् तद्यो यो देवानाम् प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथा ऋषीणां तथा मनुष्याणाम्। तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिवेदे अहं मनुरभवम् सूर्यश्चेति।** (बृ० १.४.१०)

अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव रोहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरं अकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीति। (छा० ८.१३.१)

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं·····राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं, वेदविद्यां, ब्रह्मविद्यां, भूतविद्यां, क्षत्रविद्यां, नक्षत्रविद्यां, सर्पजनदेवविद्यां एतद्‌भगवोऽध्येमि सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मवित् श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयत्विति। (छां ७.१.२.३) पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (क० २.४.१) सत्येन लभ्यः तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अंतःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ (मुं० ३.१.५) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन॥ (क० १.२.२२) इह आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति॥ (छां० ६.१४.२) क्रियावंतः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयंतः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवत् यैस्तु चीर्णम्॥ (मुं० ३.२.१०) इदं वाव तत् ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्तेवासिने। नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति॥ (छां० ३.११.५.६) वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्। नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ यस्य देवे पराभक्तिः यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ (श्वे० ६.२२.२३) त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥८॥ प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत। दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥९॥ समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥१०॥ (श्वे० २.८-१०) पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पंचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते। न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥१२॥ लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च। गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥१३॥ (श्वे० २.१२-१३) एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (क० १.३.१२) तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥ (क० १.२.२०) न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वः ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ (मुं० ३.१.८) अहं वृक्षस्य रेरिव। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वं पवित्रो वाजिनी वस्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोऽक्षितः॥ (तै० १.१०) स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एवं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानंदमयमात्मानमु-

पसंक्रम्य । इमाँल्लोकान्कामान्नीकामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते । हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो२ऽहमन्नादो२ऽहमन्नाद: । अहं श्लोकक्रुदहं श्लोकक्रुत् अहं श्लोकक्रुत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि । यो मा ददाति स इदमेव मा३वा: । अहमन्नमन्नमदन्तमा३स्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्ण ज्योती: ।
(तै० ३.१०.५-६)

"परमश्रेष्ठ वस्तु से भी श्रेष्ठ ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखने के कारण उसकी समस्त हृदयग्रंथियाँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं, उसका सारा संशय समाप्त हो जाता है तथा उसके कर्मों का क्षय हो जाता है (मु०) । जिसने ब्रह्मानन्द का अनुभव कर लिया है उसे किसी का भय नहीं रहता (तै०)। वह विदेही, अलक्ष्य, निर्भय व निरालम्ब होने पर भी सबके आश्रयस्थान ब्रह्म में प्रतिष्ठित होने के कारण निर्भय रहता है (तै०)। आत्मा निष्पाप, अजर, अमर, शोक व क्षुत्पिपासारहित तथा सत्यसंकल्प है । ऐसी आत्मा को खोजकर ज्ञान प्राप्त करना चाहिए । इस प्रकार आत्मा को खोजकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान संपादन करता है उसकी समस्त वासनाएं तृप्त होकर वह सब लोकों को प्राप्त करता है (छां०)। सृष्टि के आरम्भ में जिस प्रकार ब्रह्मा को अपने स्वत: का ज्ञान होकर यह लगा कि 'यह सब कुछ मैं ही हूँ,' उसी प्रकार जब देव, मनुष्य व ऋषि आदि में से किसी को अपने स्वत: का ज्ञान प्राप्त होता है तब वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । यह सब प्रत्यक्ष देखने वाले वामदेव ऋषि के मुख से (भूतकाल के अनन्त वर्ष वर्तमान काल के अखंड टिकने वाले एक क्षण के समान भासित होकर) ये उद्गार निकले कि मैं ही मनु में विद्यमान था व मैंने ही सूर्य को प्रकाश दिया (बृ०) । घोड़ा जिस प्रकार अपने अयाल झाड़ता है वैसे ही मैंने अपने समस्त पाप झाड़ दिये हैं । जिस प्रकार ग्रहणग्रस्त चंद्र विकृत न होते हुए राहु के मुख से पूर्णरूप से बाहर निकल आता है उसी प्रकार मैंने भी देहबंधन से मुक्त होकर आत्मज्ञान का जीवन संपादित किया है (छां०) ।

"आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए नारद जब अपने सद्गुरु सनत्कुमार के पास जाते हैं तब कहते हैं कि 'मैंने समस्त वेद, इतिहास पुराण आदि का अभ्यास किया है । पितृविद्या, गणितशास्त्र, शकुनशास्त्र, तर्कशास्त्र, वेदविद्या, भूतविद्या, ब्रह्मविद्या, शस्त्रविद्या, मंत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, कला आदि सबका अभ्यास किया है । परन्तु ये सारी ही विद्याएं मुझे दु:खसागर से तारने में असमर्थ होने के कारण मेरा अंत:करण शोकाकुल हो गया है । मैं केवल मंत्रविद् अर्थात् शब्दपंडित ही हूँ । मुझे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है। आप सरीखे श्रेष्ठ पुरुषों के मुख से मैंने सुना है कि आत्मज्ञान के द्वारा ही इस दु:खमय संसार से तरा जा सकता है । मैं शोकसागर में डूब रहा हूँ, अत: आप मुझे इस शोकसागर से उबारिये (छां०) ।

"इन्द्रियों को उत्पन्न करते समय ही परमेश्वर ने उन्हें पराङ्मुख रखा। इस कारण मनुष्य की दृष्टि अंतर्मुख न होकर बहिर्मुख ही होती है। कोई विरला ज्ञानी ही ऐसा धैर्यशाली होता है जो अपनी दृष्टि अंतर्मुख करके प्रत्यक्ष आत्मा को देखता है (क०)। यति लोग सत्य, तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य आदि साधनों से अपने समस्त दोष व अपनी सारी अशुद्धता को धोकर शरीर में रहने वाले इस ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा का दर्शन करते हैं (मु०)। आत्मा केवल प्रवचन से, कुशाग्रबुद्धि से अथवा बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता (क०)। जिसने सद्गुरु बनाया है उसी को ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। जब तक वह मुक्त नहीं होता तभी तक यह संसार का प्रपंच विद्यमान है। उसके बाद वह पूर्णकाम होता है (छा०)। जिस शिष्य ने अपने सिर पर से अग्नि ले जाने का कठिन व्रत संपन्न किया है उसी को सद्गुरु आत्मज्ञान का कठिन मार्ग बतावें। क्रियावंत, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, हवन करने वाले व श्रद्धावान् लोगों को ही ब्रह्मविद्या सिखाना चाहिए (मु०)। श्रेष्ठ पुत्र अथवा गुरु के सहवास में बहुत काल तक रहे हुए सत्पात्र, योग्य व गुणवान शिष्य को ब्रह्मविद्या सिखाना चाहिए। क्योंकि समुद्रवलयांकित पृथ्वी को व्याप्त करनेवाले धनसंचय की अपेक्षा ब्रह्मज्ञान का उपदेश कितने ही गुना श्रेष्ठ है (छां०)। वेदान्त में पहले ही से अतिशय गूढ़ तत्त्व बताये गये हैं। जो अतिशय शान्त नहीं अथवा जो अपना पुत्र या शिष्य नहीं उसे ये तत्व नहीं बताना चाहिए। जिसकी ईश्वर के ऊपर या अपने गुरु के ऊपर पराकाष्ठा की भक्ति रहती है उसी को, केवल उसी को, यह परमार्थ का रहस्य समझ में आता है (श्वे०)। अपने शरीर के तीन उन्नत भागों को एक सरल रेखा में लाकर बैठना चाहिए व मनसहित समस्त इन्द्रियों को हृदय में केन्द्रित कर एकाग्रचित्त से ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। (गीता के **'समं काय शिरोग्रीवं'** का यह अनुवाद है।) इस ब्रह्मरूपी नाव के सहारे सारे ही आत्मविकास प्रतिरोधक प्रवाहों को पार करना चाहिए। प्राणों का निरोध करना चाहिए व नियमित कर्म जितने हों उतने ही करने चाहिए। श्वास को पूर्णरूप से अन्दर खींचने के बाद जब वह क्षीण होने लगे तब उसे नासिका के द्वारा बाहर निकालना चाहिए। अपना यह मन उस रथ के समान है जिसमें अड़ियल घोड़े जुते हैं। उन्हें सावधानी से अपने वश में रखना चाहिए। योगाभ्यास के लिए पत्थर, अग्नि व बालू से रहित, हो हल्ले व जलाशय से दूर स्वच्छ व सपाट स्थान चुनना चाहिए। योगाभ्यास की जगह मन को आनन्द देने वाली हो तथा आखों के लिए कष्टदायक न हो। योगाभ्यास के लिए गुफा में एकान्त स्थान चुनना चाहिए (श्वे०)।पृथ्वी, आप्, तेज, वायु व आकाश—इन पंचमहाभूतों से उत्पन्न होने वाले योग के पाँच प्रकार के गुण जब साधक के अंग में प्रस्फुटित हो जाते हैं व उसका शरीर यौगिक तेज से भर

जाता है तब उसे रोग, जरा व मृत्यु का किंचिन्मात्र भी भय नहीं रहता। उसका शरीर हलका होकर उसे पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है। उसका शरीर निरोगी होता है, लोलुपता नष्ट हो जाती है, चेहरा प्रफुल्लित व कान्तिमान् हो जाता है तथा आवाज मधुर हो जाती है। उसका शरीरगंध शुभ होता है तथा मूत्रपुरीष अल्प मात्रा में होते हैं। नवीन साधकों को योगाभ्यास में दृढ़ता प्राप्त हो रही है या नहीं, यह इन लक्षणों द्वारा जाना जा सकता है (श्वे०)। समस्त भूतों में गुप्तरूप से निवास करने वाला यह आत्मा सभी को दिखाई नहीं देता। केवल सूक्ष्मदर्शी ऋषि ही अपनी कुशाग्र बुद्धि की सहायता से ईश्वर को देख सकते हैं (क०)। शरीर का सारा किल्मिष पूर्णरूप से धो डालने पर ही आत्मा की श्रेष्ठता का अनुभव होता है (क०)। चक्षु, वाचा अथवा अन्य किसी इन्द्रिय की सहायता से ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। ज्ञानप्रसाद से संपूर्ण शरीर को पूर्णतः शुद्ध व पवित्र कर ध्यान लगाने पर ही निष्कलंक ईश्वर दिखाई देता है (मु०)।"

अहं वृक्षस्य रेरिव

यहाँ पर उद्धृत किये गये **'अहं वृक्षस्य रेरिव'** व **'स य एवं वित्'** इन दो उल्लेखों का प्राध्यापक रानडे का विवेचन अत्यन्त मूलगामी व उपनिषदों के अनुभूतिवाद की योग्य कल्पना प्रदान करने वाला होने के कारण उसी को यहाँ उद्धृत करूँगा। "तैत्तिरीयोपनिषद् में त्रिशंकु ऋषि के ये उद्गार अत्यंत उत्तम व मननीय हैं। त्रिशंकु ऋषि कहते हैं कि आत्मज्ञान हो जाने पर उन्हें अनुभव हुआ कि **'अहं वृक्षस्य रेरिव'** अर्थात् मैं वृक्ष को हिलाने वाला हूँ। यहाँ वृक्ष का अर्थ देहवृक्ष अथवा ब्रह्माण्डवृक्ष भी हो सकता है। उपनिषद् व तदुत्तरकालीन ग्रंथकार देह को व विश्व को वृक्ष की उपमा दिया करते थे यह सर्वविदित ही है। आगे त्रिशंकु ऋषि कहते हैं—'मैं आत्मस्वरूप ही था, इस कारण मैं देहवृक्ष अथवा विश्ववृक्ष को हिला सका। मेरी कीर्ति पर्वतशिखर के समान है।' इसका अर्थ यह है कि आत्मप्रतीति होने पर उस आत्मानुभव की उच्चभूमिका से उन्होंने जब समस्त वस्तुओं की ओर देखा तब उन्हें वे सब इतनी क्षुद्र व निरर्थक प्रतीत होने लगीं कि वे अनुभव करने लगे कि मैं इन सबके शिखर के ऊपर हूँ अर्थात् शिखर के समान इन सबसे अलिप्त व उन्नत हूँ। आगे त्रिशंकु ऋषि कहते हैं कि 'जिस वंश में मैंने जन्म लिया वह वंश मानो मूर्तिमंत पावित्र्य ही है।' जिससे समस्त जगत् का निर्माण होता है उस आत्मा की पवित्रता का यहाँ उल्लेख दिखता है। आगे कहा गया है कि मैं सूर्य के ऊपर प्रतीत होने वाला आत्म-तत्त्व हूँ। यहाँ ईशोपनिषद् के समान जीवात्मा व परमात्मा का ऐक्य दिखाया गया है। त्रिशंकु ऋषि आगे कहते हैं कि 'मुझे लगता है कि मैं अमूल्य द्रव्य-

निधि हूँ ।' यहाँ शायद उन्होंने स्वतः को प्राप्त हुए आत्मानुभव के अपरिमित धन का उल्लेख किया है । अंत में वे कहते है कि 'मैं ज्ञानी, अमर व अक्षय पुरुष हूँ ।' इसके द्वारा उन्होंने स्वतः का ब्रह्म से अभिन्नत्व व एकरूपत्व दिखाया है (तै०) ।

तैत्तिरीयोपनिषद् में एक स्थान पर एक परम श्रेष्ठ ऋषि के उन्मन अवस्था के पश्चात् कहे गये उद्‌गार ग्रथित किये गये हैं। उन उद्‌गारों के समान उदात्त व गंभीर विचार बाद के साहित्य में कहीं भी प्राप्त नहीं होते । "अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनंदमय कोशों को क्रम से पार करते हुए, 'इस जगत् में मेरे सिवा अन्य कोई नहीं' इस भावना के एकान्त में बैठकर वह अत्यंत शांतता से निम्नलिखित विश्वैक्य का गीत गाता रहता है—'कैसा आश्चर्य ! मैं ही अन्न हूँ व मैं ही अन्न खाने वाला हूँ !' इस उद्‌गार का तत्वज्ञान की दृष्टि से यह अर्थ होता है कि स्वतः आत्मज्ञ ही जड़ पदार्थ व चैतन्य दोनों है और दोनों को निगड़ित करनेवाली शृंखला भी वही है तथा विज्ञान की दृष्टि से ज्ञाता, ज्ञेय व इन दोनों को एकत्रित करने वाला ज्ञान भी वही है। यह एक आध्यात्मिक अनुभव की अवस्था है जिसका वर्णन करते हुए एक आधुनिक तत्ववेत्ता कहते हैं कि इस अवस्था में योद्धा, युद्धभूमि व युद्ध में आपस में कोई भेद नहीं होता, यह त्रित्व समाप्त हो जाता है। 'मैं धर्म का प्रथम पुत्र हूँ । आयु में मैं देवों से बड़ा हूँ । मैं अमरत्व का केन्द्र हूँ। मुझे जो देता है वह मुझे सदा अपने वश में रखता है । जो अन्न खाता है उसे मैं अन्न मानकर खाता हूँ। मैं सूर्यप्रकाश से इस समस्त विश्व को आलोकित करता हूँ (तै०) ।"

उपर्युक्त विश्वैक्य का गीत, देह की परिसीमा में प्रकाशित होने वाली आत्मा के विश्वात्म भाव में परिणत होने का कितना सुन्दर निदर्शक है ! उपनिषदों के उपर्युक्त उद्‌गारों का अच्छी तरह से मनन करने पर यह सहज समझ में आ जाता है कि अनुभूतिवाद में पर्यवसित होने वाली भारतीय तत्वज्ञान की परम्परा किस प्रकार महर्षि रमण के काल से लेकर उपनिषदों के काल तक एकरस एवं एकात्म बनी हुई है। और फिर केवल अनुभूतियों का दिग्दर्शन मात्र ही नहीं किया गया है वरन् **'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्'** सरीखे हठयोगादि साधनों का, मांडूक्योपनिषद् के प्रणवादी साधनों का व ओंकार की अक्षर साधना का तथा राजयोग, ज्ञानयोग (**श्रोतव्यः मंतव्यः** आदि), लययोग व मंत्रयोग सरीखे अनुभूति के प्रत्यक्ष प्रयोगात्मक साधनों का स्पष्ट उल्लेख भी हमें प्राप्त होता है। पातंजल योग-सूत्रादि ग्रंथों में इसी साधन मार्ग का प्रक्रिया के नाते अधिक शास्त्रीय पद्धति से प्रतिपादन किया गया है। इससे हम यह कह सकते हैं कि भारतीय भावजीवन का अनुभूति में पर्यवसित होने वाला तत्त्वज्ञानात्मक आधार

उपनिषत्काल में पूर्णावस्था प्राप्त कर चुका था। किंतु वैदिक राष्ट्र की धारणा का समालोचन करते समय यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उपस्थित होता है कि सबसे प्राचीन समझी जाने वाली ऋग्वेद संस्कृति के काल में यह आधार सिद्धावस्था प्राप्त कर चुका था या नहीं, क्योंकि उस मान से तो उपनिषद् काफी अर्वाचीन सिद्ध होते हैं। जहाँ तक तत्त्वज्ञान का संबंध है वह तो ऋग्वेद काल में ही सिद्धावस्था प्राप्त कर चुका था यह हम गत अध्याय में नासदीय सूक्तादि उल्लेखों का परीक्षण करके देख ही आये हैं। अब हम यह देखने का उपक्रम करेंगे कि अनुभूतिवाद के संबंध में ऋग्वेद में कौन से उल्लेख प्राप्त होते हैं।

ऋग्वेद में अनुभूतिवाद

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उपनिषदों के समान ही ऋग्वेद में भी अनुभूतिवाद व साधनमार्गों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मंत्रद्रष्टा ऋषि के निम्नोक्त दिव्यगीत को हम देखें जिसमें विश्वात्मैक्य की अनुभूति का वर्णन है।

अहं रुद्रेभिः वसुऽभिः चरामि अहं आदित्यैः उत विश्वऽदेवैः।
अहं मित्रावरुणा उभा बिभर्मि अहं इन्द्राग्नी (इति) अहं अश्विना उभा ॥१॥

अहं सोमं आहनसं बिभर्मि अहं त्वष्टारं उत पूषणं भगम्।
अहं ददामि द्रविणं हविष्मते सुप्रऽअव्ये यजमानाय सुन्वते ॥२॥
अहं राष्ट्रीः संऽगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवाः विअदधुः पुरुऽत्रा भूरिऽस्थात्रां भूरि आवेशयन्तीम् ॥३॥
मया सः अन्नं अत्ति यः विऽपश्यति यः प्राणिति यः ईं शृणोति उक्तम्।
अमन्तवः मां ते उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिऽवं ते वदामि ॥४॥
अहं एव स्वयं इदं वदामि जुष्टं देवेभिः उत मानुषेभिः।
यं कामये तम्ऽतं उग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तं ऋषिं तं सुमेधाम् ॥५॥
अहं रुद्राय धनुः आऽतनोमि ब्रह्मऽद्विषे शरवे हन्त वै ऊं (इति)।
अहं जनाय सऽमदं कृणोमि अहं द्यावापृथिवी (इति) आविवेश ॥६॥
अहं सुवे पितरं अस्य मूर्धन् मम योनिः अप्ऽसु अन्त (रिति) समुद्रे।
ततः वि तिष्ठे भुवना अनुविश्वा उत अमुं द्यां वर्ष्मणा उप स्पृशामि ॥७॥
अहं एव वातःऽइव प्रवामि आऽरभमाणा भुवनानि विश्वा।
परः दिवा परः एना पृथिव्या एतावती महिना सबभूव ॥८॥

—ऋग्वेद १०.१२५

"मैं (आदिशक्ति) रुद्र व दिव्य वसुओं के साथ नित्य वास करती हूँ। उसी प्रकार आदित्य व विश्वेदेव के साथ भी मैं वास करती हूँ। मैं मित्र व

वरुण दोनों का स्वरूप धारण करती हूँ तथा इन्द्राग्नी व उभय अश्विनी देव भी मैं ही हूँ। अत्यन्त आवेश उत्पन्न करने वाले सोमरस को भी मैं ही धारण करती हूँ व त्वष्टा, पूषा तथा (भाग्याधिपति) भग को भी मैं ही धारती हूँ। हविर्भाग अर्पण करने वाले, भक्ति से भरे हुए तथा सोमरस काढ़कर समर्पित करने वाले यज्ञकर्ता यजमान को उसका इच्छित धन मैं ही समर्पित करती हूँ। मैं ही जगत् की स्वामिनी हूँ, मैं ही दिव्यनिधि का भंडार भी हूँ। मैं ज्ञान-रूप हूँ किन्तु यज्ञयोग्य दिव्य विभूतियों में आद्य अर्थात् सबसे पहले की मैं ही हूँ। इसीलिए उन देवों ने मुझे भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न स्थानों में रखा है (भिन्न-भिन्न नामों से वर्णित किया है।) क्योंकि मैं असंख्य स्थानों में वास करने वाली तथा असंख्य अर्थात् समस्त वस्तुमात्र में व्याप्त हूँ। (प्राणी) जो अन्न खाता है, देखता है, श्वासोच्छ्वास करता है अथवा बोले हुए वचन सुनता है वह सब मेरी ही शक्ति से करता है; किन्तु वे यह नहीं जानते कि सब मुझमें ही रहते हैं। अतः हे बुद्धिमान् मनुष्य ! सुन, तुझे ऐसी बात बताती हूँ जिस पर तेरा विश्वास जम सके। जो देवों व मनुष्यों को भी मान्य हो चुका है वही अब मैं स्वयं बताती हूँ। वह यह कि (सत्कर्माचरण के कारण) जिसकी ओर मेरा मन उन्मुख होता है उसे मैं ब्रह्मवेत्ता बनाती हूँ, उसे प्रज्ञावान् ऋषि भी बना देती हूँ। वेद का (ज्ञान का) द्वेष करने वाले दुष्ट शत्रु को मारने के लिए रुद्र का धनुष मैं ही सजाती हूँ। जनता के हित के लिए मैं युद्ध का तांडव रचती हूँ। इस प्रकार द्यावापृथिवी में सर्वत्र मैं ही विद्यमान हूँ। इस (रजोलोक और मृत्युलोक) के शीर्ष पर मैंने (द्यौ) पिता को उत्पन्न किया। किन्तु स्वतः मेरा मूलस्थान (आदिकारणरूप) समुद्र के अंदर है। वहाँ से मैं समस्त भुवनों को व्याप्त किये हूँ व मेरे विस्तार से मैंने द्युलोक की सीमा का सहज स्पर्श किया है। वायु के समान सर्वत्र संचार करने वाली अकेली मैं ही हूँ; क्योंकि मैंने ही इन समस्त भुवनों को उत्पन्न किया है। इसीलिए इस द्युलोक के भी परे व इस पृथ्वी के भी परे (पर यह बताने की आवश्यकता नहीं कि) मैंने अपने अमर्याद विस्तार से सब कुछ व्याप्त कर रखा है।"

अहं मनुः अभवम् सूर्यः च अहं कक्षीवान् ऋषिः अस्मि विप्रः।
अहं कुत्सं आर्जुनेयं नि ऋञ्जे अहं कविः उशना पश्यत मा ॥१॥
अहं भूमिं अददां आर्याय अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय।
अहं अपः अनयं वावशानाः मम देवासः अनु केतं आयन् ॥२॥
अहं पुरः मन्दसानः वि ऐरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य।
शतऽतमं वेश्यं सर्वऽताता दिवःऽदासं अतिथिऽग्वं यत् आवम् ॥३॥
प्र सु सः विऽभ्यः मरुतः विः अस्तु प्र श्येनः श्येनेभ्यः आशुऽपत्वा।
अचक्रया यत् स्वधया सुऽपर्णः हव्यं भरत् मनवे देवऽजुष्टं ॥४॥

भरत् यदि विः अतः वेविजानः पथा उरुणा मनःऽजवाः असर्जि ।
तूयं ययौ मधुना सोम्येन उत श्रवः विविदे श्येनः अत्र ॥५॥

ऋजीपी श्येनः ददमानः अंशुं पराऽवतः शकुनः मन्द्रं मदम् ।
सोमं भरत् ददृहाणः देवऽवान् दिवः अमुष्मात् उत्ऽतरात् आऽदाय ॥६॥

आऽदाय श्येनः अभरत् सोमं सहस्र सवान् अयुतं च साकम् ।
अत्र पुरम्ऽधिः अजहात् अरातीः मदे सोमस्य मूराः अमूरः ॥७॥

—ऋग्वेद ४.२६

"मैं ही (पहले) मनु हुआ। मैं ही सूर्य हूँ तथा महाबुद्धिमान् कक्षीवान् ऋषि भी मैं ही हूँ। अर्जुनी का पुत्र कुत्स भी मैं ही हूँ तथा उशना कवि भी मैं ही हूँ। मेरी ओर देखो। मैंने सारी भूमि आर्यों को दी है। दानशूर भाविक जनों के लिए पर्जन्यवृष्टि मैंने की है। कल-कल करके बहती हुई नदियों का मार्ग मैंने ही बनाया है तथा मेरे ही (ईश्वरी) संकेतों के अनुसार देवगण अपना आचरण करते आये हैं। मैंने ही हर्षोन्मित्त होकर सौ दानवों के नव्वे के नव्वे नगरकोट उध्वस्त कर दिये; किन्तु शततम के स्थान को मात्र पूर्ण सुख के धाम में प्रविष्ट करा दिया। और जब दिवोदास व अतिथिग्व का रक्षण किया उसी समय (शततम के ऊपर भी कृपा की)। हे मरुतो, समस्त पक्षियों में वही पक्षी श्रेष्ठ होवे। समस्त श्येन पक्षियों में भी तेजी से उड़नेवाला श्येन ही श्रेष्ठ होवे। देखो (जैसे रथ के लिए चक्के आवश्यक होते हैं वैसे) जिसे चक्कों की बिलकुल आवश्यकता नहीं, ऐसे उस श्रेष्ठ पक्षिराज ने अपने शौर्य से देवताओं को भी लुभाने वाले (सोमरूपी) हव्य को मानवों के लिए पृथ्वी पर लाया है। (सबको) भय से कंपित करने वाले उस पक्षी ने जिस समय वहां से सोम का हरण किया उस समय मनोवेग से उड़ने वाला वह पक्षी विस्तीर्ण आकाश मार्ग से तुरंत निकला व मधुर रसयुक्त सोमरस लेकर अत्यंत त्वरित गति से उड़ चला और (अंत में) उस श्येन पक्षी को यहाँ (मृत्युलोक में) सोमरस लाने का महद्यश प्राप्त हुआ। सीधी सरल उड़ान भरने वाले उस देवप्रिय श्येनपक्षी ने अत्यन्त दूरस्थित एवं अत्युच्च (स्वर्ग) द्युलोक से वह हर्ष व उल्लासकारक सोमवल्ली अपनी चोंच में दृढ़ता से पकड़कर यहाँ लाई। श्येन पक्षी ने सोमवल्ली उठाई एवं सहस्र ही नहीं, लक्षावधि सोम सेवनों का श्रेय लेकर वह उसे यहाँ (भूलोक में) ले आया तब उस सोम के हर्ष से उत्फुल्ल हुए उस प्रज्ञाशाली एवं अजड़ (दिव्य) श्येन ने अधार्मिक लोगों को जड़मूढ़ बनाकर एक ओर फेंक दिया।"

यत्र जोतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमान। अमृते लोके अक्षिते इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥७॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यव्हतीर् आपस तत्र मां अमृतं कृधि इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥८॥

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोकाः यत्र ज्योतिष्मंतस् तत्र मां अमृतं कृधि इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥९॥

यत्रकामाः निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र मां अमृतं कृधि इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥१०॥

यत्रा नन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते कामस्य यत्राप्ताः कामास् तत्र मां अमृतं कृधि इन्द्रायेन्दो परि स्रव ॥११॥

—ऋग्वेद ९.११३

"हे पावन प्रवाह, मुझे उस अक्षय अमरलोक में पहुँचा दे, जहाँ अखंड प्रकाश विद्यमान है तथा जहाँ दिव्य तेज फैला हुआ है। हे आह्लादप्रद सोम, तू सदा इन्द्र के प्रीत्यर्थ अपने पावन प्रवाह को चालू रख। वह स्थान जहाँ विवस्वान् का पुत्र यमराज वास्तव्य करता है, द्युलोक का गुप्तस्थान है जो दृष्टि के परे है। उस स्थान पर जहाँ पूर्ण वेग से बहने वाली आपोदेवी रहती हैं, मुझे (रखकर) अमर कर और हे आह्लादकारक सोम, तू सदा इन्द्र के प्रीत्यर्थ अपने पावन प्रवाह को चालू रख। द्युलोक के जिस तीसरे उच्चलोक में मनमाना संचार किया जा सकता है तथा जहाँ सारे ही स्थान तेजोमय हैं उस स्थान पर मुझे रखकर अमर कर और हे आह्लादकारक सोम, तू इन्द्र के प्रीत्यर्थ अपने पावन प्रवाह को सदैव बहता रख। जिस स्थान पर काम्यकर्म करने वाले व उसी प्रकार निष्काम कर्म का आचरण करने वाले लोग रहते हैं, जो सृष्टि का मूलाधार है, जहाँ स्वधा (अर्थात् स्वयंसिद्ध अमृत) है, जहाँ तृप्ति है, उस स्थान पर मुझे रखकर अमर कर और हे आह्लादरूप सोम, तू इन्द्र के प्रीत्यर्थ अपने पावन प्रवाह को सदैव चालू रख। जहाँ आनंद है, प्रमोद है, उल्लासवृत्ति है, हर्ष है, अत्यंत हर्ष भी है, जहाँ प्रत्यक्षवासनाओं की भी वासनाएं सफल होती हैं, उस स्थान पर मुझे (रखकर) अमर कर और हे आह्लादकारक सोम, तू इन्द्र के प्रीत्यर्थ अपने पावन प्रवाह को सदैव बहता रख।"

अपाम सोमं अमृता अभूम अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान।
किं नूनं अस्मान् कृणवत् अरातिः किमु धूर्तिर् अमृत मर्त्यस्य ॥३॥
इमे मा पीता यशसः उरुष्यवो रथं न गावः सं अनाह पर्वसु।
ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रात् उन मा स्रावात् यवयन्तु इन्दवः ॥५॥
अग्निं न मा मथितं सं दिदीपः प्र चक्षय कृणुहि वस्यसो नः।
अथा हि ते मद आ सोम मन्ये रे वान् इव प्रचरा पुष्टिं अच्छ ॥६॥

—ऋग्वेद ८.४८

"हमने दिव्य रस का प्राशन किया; हम अमर हो गये। हमने दिव्य प्रकाश प्राप्त किया एवं देवताओं को जाना। अब धर्मविमुख दुष्ट हमारा कर ही क्या सकते हैं? हे अमरदेव, मनुष्य की धूर्तता भी भला हमारा क्या बिगाड़ सकती है? मेरे द्वारा प्राशन किया गया यह यशस्कर एवं पापनिर्मुक्त करने वाला सोमरस, ज्यों रथ व वृषभ एकत्र जुते रहते हैं, त्यों मेरे शरीर में पूर्णरूप से व्याप्त हो गया है। वह मेरा रक्षण करे, मुझे चरित्र से भ्रष्ट न होने दे व मुझे रोगों से दूर रखे तथा रगड़कर प्रदीप्त की हुई अग्नि के समान मुझे उज्ज्वल करे। हमें उत्तम दृष्टि प्रदान कर तथा सदा प्रसन्नचित्त रख। हे सोम, ऐसा लगता है कि तेरे हर्षित रहने से मैं वैभवशाली तो बनूंगा ही। वैसी समृद्धि सदा सर्वदा बनी रहे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर।"

कालातीत एकरूपता

अब यह समझना सरल है कि वेदमंत्रों के द्रष्टाओं ने तुरीयावस्था में आरूढ़ होकर दिक्कालातीत परमतत्त्व से एकरूपता स्थापित होने पर ये जो अमरत्व के, विश्वात्मकता के व आनन्दात्मकता के उत्स्फूर्त गीत गाये हैं, उन्हीं का आलाप उनके बाद के तथा आज के मान से प्राचीन माने जाने वाले गीता, उपनिषदादि साहित्यों के द्वारा अधिक स्पष्टता से प्रगट हुआ है। लोकमान्य तिलक का नासदीय सूक्त के विषय में यह कथन कि 'इसी सूक्त के तत्त्व को बाद के लोगों ने अधिक सुव्यवस्थित रीति से प्रतिपादित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया है,' अनुभूतिवाद के सम्बन्ध में भी अक्षरशः लागू होता है।

वेद में साधनयोग

वास्तव में, जहाँ शब्दज्ञान के परे अनुभूतिवाद का अस्तित्व है, वहाँ अनुभूति के योगादि विविध साधनों की समाज में कल्पना होनी ही चाहिये यह स्पष्ट है। किन्तु 'उल्लेख' 'उल्लेख' की रट लगाने वाले लोगों के लिए वैदिक साहित्य में विद्यमान तत्सम्बन्धी स्पष्ट निर्देशों का दिग्दर्शन कराना आवश्यक हो जाता है। अतः एक बार पुनः इस बात की याद दिलाकर कि वेदसंहिता संग्रहग्रंथ हैं, ऋग्वेद के कुछ उल्लेख यहाँ उद्धृत करता हूँ। आधुनिक अनुसंधानकर्ताओं ने कूटकाव्य कहकर अथर्ववेद व ऋग्वेद के जिन भागों को उपेक्षित कर दिया है, उन भागों में ऐसे साधनों के द्वारा उपलब्ध होने वाली सूक्ष्म अनुभूति का वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में विवेचन करते समय यह बताया ही गया है कि ऋग्वैदिक संस्कृति के लोगों को देह, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, आत्मा आदि की स्पष्ट कल्पना थी। साथ ही **'सूर्य चक्षुर्गच्छति वातमात्मा'** वाली ऋचा का विवेचन करते हुए यह भी बताया गया है कि इसके द्वारा गीता के **'इन्द्रियाणि पराण्याहुः'**

का भाव ही व्यक्त होता है। साधनों का सम्बन्ध मानसशास्त्र से होता है क्योंकि आखिर साक्षात्कार तो मन को ही हुआ करता है। भारतीयों के मानसशास्त्र का जो अति विकसित स्वरूप पातंजल योगशास्त्र सरीखे ग्रंथों में दिखाई देता है वैसा पद्धतियुक्त मंडन वेदसरीखे संग्रहग्रंथों में प्राप्त होना सम्भव नहीं। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि ऋग्वेद में प्राप्त होने वाले साक्षात्कार के वर्णन प्रक्रियाबद्ध हैं जिनसे पद्धतियुक्त योगादि साधनशास्त्रों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। आगे के कुछ उल्लेख इस दृष्टि से मननीय हैं—

यत् ह त्यत् मित्रावरुणौ ऋतात् अधि आ ददाथे अनृतं स्वेन मन्युना।
दक्षस्य स्वेन मन्युना। युवोर् इत्थाधिसद्मसु अपश्याम हिरण्यम्।
धीभिश्चन मनसा स्वेभि रक्षभिः सोमस्य स्वेभि रक्षभिः॥

—ऋग्वेद १.१३९.२

(हे मित्रवरुणो, जब आप लोगों ने स्वेच्छा से अपनी चतुराई के स्वभाव के अनुरूप यह बताया कि यह असत्यशरीर सत्यस्वरूप आत्मा से भिन्न है तभी हम लोगों को आपका हिरणमयस्वरूप आपके निवास स्थान पर दिखलाई दिया। पहले वह केवल हमारी बुद्धि को ही ग्राह्य हुआ, तदनन्तर मन को, फिर सूक्ष्म इन्द्रियों को व उसके अनन्तर स्थूल इन्द्रियों को भी (सगुणसाकार) वह स्वरूप गोचर हुआ।) इस ऋचा का ही यदि हम एकान्त विचार करें तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि गीता व उपनिषदों का "**इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥**" यह सशास्त्र वर्गीकरण ऋग्वेद काल में ही सिद्ध हो गया था।

सरस्वती साधयंती धियं नः इला देवी भारती विश्वतूर्तिः।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरा इदं अच्छिद्रं पांतु शरणं निषद्य।

—ऋग्वेद २.३.८

(हमारे ध्यान को सफल बनाने वाली सरस्वती, देदीप्यमान इला तथा समस्त जगत् को हाथों में रखने वाली भारती, ये तीनों ही देवियाँ अपनी परिपाटी के अनुसार इस कुशा पर आरोहण कर हमारे इस आश्रय का इस तरह रक्षण करें कि वह पूर्ण रूप से निर्दोष बना रहे।)

इमा अभि प्रणोनुमो विपाम् अग्रेषु धीतयः। अग्नेः शोचिर्न दिद्युतः॥७॥
गुहा सतीरुपत्मना प्रयत् शोचन्त धीतयः। कण्वा ऋतस्य धारया॥८॥

—ऋ० ८.६.८

(हमारी इन ध्यानस्तुतियों को हम अन्यस्तुतियों के पूर्व जोरों से गाते हैं। ये स्तुतियाँ तो मानों साक्षात् अग्नि की तेजस्वी ज्वालाएं ही हैं। ये ध्यानस्तुतियाँ अंतःकरण में गुप्तरूप से थीं, वे जब स्वयं होकर प्रकाशित हुई

तब कण्व भी सद्धर्म के धाराप्रवाह से चमकने लगे।)

तदित् रुद्रस्य चेतति यह्वम् प्रत्नेषु धामसु।
मनो यत्रा वि तत् दधुर्विचेतसः ॥२०॥
इन्द्र त्वं अवितेत् असि इत्था स्तुवतो अद्रिवः।
ऋतात् इयर्मि तेधियं मनोयुजम् ॥२६॥

—ऋग्वेद ८-१३

(रुद्र का वह प्रभावशाली स्वरूप तेजोमय स्थान में स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर हो रहा है तथा स्वानुभवी भक्तों ने उस स्थान पर ही अपने मन को स्थिर किया है। हे इन्द्र, इस प्रकार का स्तवन करने वाले भक्त का तू सदा रक्षण ही करता है। अतः हे वज्रधर, मेरे अन्तःकरण के साथ तन्मय होने वाली ध्यानस्तुति को मैं सत्यधर्म के प्रभाव से तुम्हारी ओर प्रेषित करता हूँ।)

वृषाऽयम् इन्द्र ते रथः उतो ते वृषणा हरी।
वृषा त्वम् शतक्रतो वृषा हवः ॥३१॥
वृषा त्वा वृषणं हुवे वज्रिन् चित्राभिरूतिभिः।
ववन्थ हि प्रतिष्टुतिं वृषा हवः ॥३३॥

ऋ० ८.१२

(हे इन्द्र, यह तेरा रथ वीर्यशाली है तथा तेरे घोड़े भी वीर्यशाली हैं और हे अपार कर्तृत्ववान् देव, तू स्वतः तो वीर्यशाली है ही, परन्तु तेरा **नाम-संकीर्तन** भी वैसा ही वीर्यशाली है। हे वज्रधर, वीर्य के प्रभाव से प्रबल हुआ मैं, तेरा भक्त, तुझ वीर्यशाली का नानाप्रकार की शक्तियों सहित आवाहन करता हूँ। तू उत्कृष्ट स्तुति का भोक्ता है व तेरा **संकीर्तन** भी भक्त को सामर्थ्यसंपन्न बनाता है।)

ध्यानस्तुति से लेकर नामसंकीर्तन तक के ये उल्लेख स्पष्टरूप से अनुभूति के साधनमार्ग दर्शाते हैं। योगसरीखे साधनों के द्वारा अंग में उत्पन्न होने वाले सामर्थ्य सम्बन्धी उल्लेख भी ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। उनको अपनी विचार कक्षा में लेते हुए श्री अप्रबुद्ध पातंजल योगसूत्र सम्बन्धी अपने अंग्रेजी ग्रंथ की प्रस्तावना में लिखते हैं—

*"योग आर्यों की स्वतन्त्र प्रतिभा से उत्पन्न हुआ श्रेष्ठ शास्त्र है जिसे आर्यों ने ही खोजा, अनुभव किया व वृद्धिगत किया। आर्यों जितना ही वह प्राचीन है। उसकी परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से अक्षुण्ण रही है और

---

*Yoga is a genuine Arya science discovered by the Aryas, experienced by the Aryas and evolved by the Aryas. It has got an amazingly long continuity and that continuity shall remain

राष्ट्रों के उत्कर्षापकर्ष व सामाजिक क्रान्तियों के बाद भी वह आगे वैसी ही अखंड बनी रहेगी। वेदों व उपनिषदों का विचारपूर्वक अध्ययन करने वालों को वहां भी इस शास्त्र के दर्शन होंगे। यह अवश्य है कि वहाँ 'योग' शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है जिस अर्थ में महर्षि पतंजलि ने किया है। किन्तु योग की सिद्धियों का वहां वर्णन है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर ऐसे उल्लेख हैं कि चित्त की एकाग्रता से विशिष्ट प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है तथा ध्यान के द्वारा किसी दूर स्थित वस्तु को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। ऋग्वेद के ऋभु सूक्त में ऋभुओं द्वारा किये गये चमत्कारों का बड़े आदर एवं भक्तिभाव से वर्णन किया गया है। उन्होंने गाय के चमड़े से जीवित गाय का निर्माण किया तथा एक प्याले में से चार प्याले उत्पन्न करके दिखाये। यही नहीं, उन्होंने तो अपनी ध्यानशक्ति के प्रभाव से एक जीवित अश्व का भी निर्माण किया।''

त्रिविध सृष्टि

इस प्रकार ऋग्वेद में साधनयोगसहित अनुभूतिवाद प्राप्त होता है। आर्यों की एक कोशकल्पना भी ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से प्राप्त होती है। वैदिक धर्म के अनुसार एक ही परब्रह्म से इस संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति होने के पश्चात् भी उसके सृजन एवं विलय का एक विशिष्ट क्रम है। ऋग्वेद में भी सृष्टि के वर्णन में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं कि वह तीन प्रकार की है, पांच प्रकार की है व सात प्रकार की है। वहाँ ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि सृष्टि के तीन प्रकार हैं—भू, रज व अंतरिक्ष—जो आगे की पंचीकरण की प्रक्रिया के समान ही एक दूसरे में गुंथे हुए होने के कारण प्रत्येक पदार्थ के

---

unbroken even by the rise and fall of the people, or social revolutions. Those who care to have a look at the Upanishads and the Vedas will at once know that science is there. Of course the word Yoga is not found there, in the very sense of Patanjali, but powers are distinctly mentioned. Not infrequently, it is noted in the Rigved that particular knowledge is gained by means of concentrated thought or that a particular remote thing is said to be visualised by means of meditation. In the Ribhu (ऋभु) Suktas it is often noted with all the ardour of devotion engendered by miracles, that the Ribhus turned the hide of a cow into an actual living cow and that they created four cups (चमस्) out of one on the spot. Not only this, but it is again described, that by his sheer mental force a Ribhu actually created a living horse,

भी त्रिभु, त्रिरज आदि स्वरूप होते हैं। ऋग्वेद का कथन है कि व्यक्त सृष्टि के घन-विरल भाव के समान ही प्रत्येक पदार्थ में आधिभौतिक, आधिदैविक व आध्यात्मिक—यह त्रिविधता विद्यमान रहती है और इस कारण ऋग्वेद में प्रत्येक पदार्थ की त्रिविधता का द्योतक 'त्रिधातु' शब्द भी प्राप्त होता है।

देवता व इन्द्र

ऋग्वेद में 'देवता' शब्द का उल्लेख आधिदैविक क्षेत्र की तेंतीस शक्तियों के लिए हुआ है तथा गीता के समान ही ऋग्वेद में भी यह कल्पना विद्यमान है कि देव ज्योतिर्मय हैं तथा इनमें व मनुष्यों में अथवा यों कहिये कि आधिदैविक व आधिभौतिक सृष्टियों में परस्पराश्रयत्व का सम्बन्ध है। ऋग्वेद में देवों का अमर्त्य, ज्ञानरूप, सर्वशक्तिमान व निग्रहानुग्रह के अतिरिक्त और कोई हेतु न रखने वालों के रूप में वर्णन हुआ है। इन्द्र उनका देवाधिदेव है। निष्ठावंत वारकरी संप्रदाय के लोगों की दृष्टि में पंढरी के पांडुरंग की जो महत्ता है वही ऋग्वेदीय ऋषियों की दृष्टि में इन्द्र की महत्ता है। जिस प्रकार वारकरी पांडुरंग में परमेश्वर का सगुण साकार रूप देखते हैं उसी प्रकार ऋग्वेदीय ऋषि भी इन्द्र में परमेश्वर का सगुण रूप देखते हैं। इन्द्र के अपने घर आकर बैठने का तथा देवताओं के सगुण साक्षात्कार का वर्णन, साथ ही ऋषियों के अन्तःकरण में देवताओं के लिए उत्पन्न होने वाली भक्तियुक्त आत्मीयता, इतनी उत्कृष्टता से ऋग्वेद में व्यक्त हुए हैं कि वेदों में भक्तिमार्ग एक स्वतन्त्र विवेचन का विषय हो सकता है। यहाँ थोड़े में इतना ही कहा जा सकता है कि श्री ज्ञानेश्वर महाराज एवं श्री तुकाराम महाराज की परमेश्वर के सम्बन्ध में जैसी आत्मीयता थी, वैसी ही आत्मीयता वेदमंत्रों के द्रष्टाओं के उद्गारों में भी अभिव्यक्त हुई है। ऋग्वेद के 'त्रिधातु' शब्द द्वारा व्यक्त होनेवाली वैदिक धर्म की कोशकल्पना की जिन्हें जानकारी नहीं, वे ऋग्वेद के देवी-देवताओं का मूल अज्ञानी निसर्गपूजा अथवा सृष्टिचमत्कारों के रूपक के रूप में खोजने का प्रयास करते हैं। किन्तु निरी निसर्गपूजा तो जंगली लोगों में भी नहीं होती; फिर वह पिंडब्रह्माण्ड का प्रश्न कभी का हल किये हुए श्रेष्ठ संस्कृतिसंपन्न ऋग्वेदीय लोगों में ही कैसे हो सकती है? किन्तु यह सीधा सा विचार भी इन तथाकथित महापंडितों के मन में आता नहीं, यही दुर्दैव की बात है। जस्टिस् वुड्रॉफ ने लिखा है—

*"गोल्ड कोस्ट के नीग्रो लोग भी यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी पूजा व समर्पण उन निर्जीव पदार्थों के लिए नहीं है, वरन् उनमें विद्यमान

---

*Even Negroes of the Gold Coast are always conscious that their offerings and worship are not paid to the inanimate object itself but to the indwelling God and every native with

परमेश्वर के लिए है। और प्रत्येक नीग्रो, जिससे मैंने इस सम्बन्ध में बातचीत की इस बात की संभावना पर हँसा कि उसकी पूजा अर्चा किसी पत्थर की मूर्ति के लिए समझी जा सकती है।"

राम ने जिस प्रकार शबरी के जूठे बेर खाये थे उसी प्रकार ऋग्वेदीय ऋषियों के इन्द्र ने भी अपनी भक्तिन् के घर उसके दांतों द्वारा चबाकर निकाले गये सोमरस को ग्रहण किया है तथा अपने प्रिय भक्तों को बारम्बार दर्शन दिया है। इन्द्र के सम्बन्ध में प्रचलित रूढ़ कल्पनाओं का खंडन करते हुए श्री अप्रबुद्ध लिखते हैं कि—

"यद्यपि वृत्रवध अधिकांशतः इन्द्र का ही कृत्य समझा जाता हैं तथापि कुछ स्थानों पर अग्नि, सोम आदि के द्वारा भी वृत्रवध करने का उल्लेख आता है। इससे ऐसा दिखता है कि वृत्रवध नैसर्गिक घटना न होकर एक आध्यात्मिक कल्पना है। इन सारी उपपत्तियों को एक ओर रखते हुए बिल्कुल स्वच्छ मन से यदि हम ऋग्वेद को पढ़ें तो एक बात प्रमुखता से दिखाई देती है। ऋग्वेद में इन्द्र के अनेक स्वरूपों का वर्णन होने पर भी तथा कई स्थानों पर उनके मनुष्य स्वरूप का वर्णन होने के पश्चात् भी, उन सबको पढ़कर मन पर यही परिणाम होता है कि स्वतः सूक्तकार ऋषि इन्द्र को एक दिव्य व अपार्थिव व्यक्ति समझते थे। मैंने पहले भी कई बार कहा है और अब भी कहता हूँ कि हम भले ही इन्द्र को मूलतः सृष्ट-चमत्कार मानें या मनुष्य मानें, किन्तु सूक्तकार ऋषि को उस मूलस्वरूप की यत्किंचित् भी कल्पना नहीं, यह स्पष्ट है। इन्द्र मूलतः यदि मनुष्य होता तो उन्होंने वैसा स्पष्टतः कहा होता। क्योंकि वैसे उल्लेख ऋग्वेद में हैं। प्रयत्न से मनुष्य ऋषि या देव बन सकता है यह बात ऋग्वेद को पूर्णतः सम्मत है। **"तेन देवत्वं ऋभवः समानश"**, यह वे बार बार कहते हैं। गृत्समदों का मूलपुरुष मूलतः मनुष्य ही था जो इन्द्र का सहचर बनकर इन्द्र के समान ही कृत्य करनेवाला बना, यह ऋभुओं से भी पूर्व की बात ऋग्वेद को ज्ञात है और यदि वैसी ही बात इन्द्र के सम्बन्ध में हुई होती तो ऋषियों ने वैसा निस्संकोच कहा होता। बाद के साहित्यों में भी रामायण में यह बात स्पष्ट रीति से कही गई है कि दाशरथि राम पूर्वकल्प में वसु थे तथा पूर्णावतार श्रीकृष्ण को महाभारत पहले का नारायण ऋषि मानता है। सारांश यह कि इस प्रकार की कोई कल्पना ऋग्वेद में न होने के कारण यह स्पष्ट है कि सूक्तकार ऋषि इन्द्र को आत्मीयतापूर्वक अपार्थिव समझते थे। इन्द्रवृत्त के रूपक का स्पष्टीकरण अध्यात्म की सहायता से अधिक अच्छी तरह किया

---

whom I have conversed on the subject has laughed at the possibility of its being supposed that he would worship or offer sacrifice to some object of stone. (Shakti and Shakta p. 279)

जा सकता है। वृत्र याने मनुष्य के अंत:करण का मोहरूपी अन्धकार। इसके साथ ही पूर्वसंचित कर्मों के फलीभूत होने के कार्य में रोड़े अटकाने वाले दुष्ट कर्म भी बीजरूप में मूलस्वरूप में रहते ही हैं। इसीलिए वृत्त को पानी में पड़ा हुआ कहा गया है। अहि का दृष्टान्त समर्पक है। एकदम प्राणों पर ही आघात करने वाला, सर्वत्र संचार करने वाला, मनमाना सूक्ष्मरूप धारण करने वाला, यत्किंचित् भी आवाज न करते हुए सरसराने वाला, बिल में रहने वाला तथा अतिशय चपल व वक्र सर्प प्रत्येक काल में लोगों का दुष्ट शत्रु ही रहा है। पापकर्म की गति भी ठीक उसी प्रकार की है। अतः पापकर्मों को दिया गया सर्प का रूपक अत्यन्त समर्पक है। ऐसे वृत्त का वध इन्द्र का नित्यपराक्रम कहकर वर्णित किया गया है। सारांश यह कि ऋग्वेद में वृत्त का व अन्धकार का सम्बन्ध इस तरह वर्णित किया गया है। छः महीनों की रात से उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कहीं भी वर्णित नहीं है। ऋग्वेद-कालीन ऋषि इतने अल्पज्ञ थे कि वे आधिभौतिक को आधिदैविक समझा करते थे अथवा वे इतने विक्षिप्त थे कि आधिदैविक की कल्पना होने पर भी आधिभौतिक को ही आधिदैविक के नाते वर्णित करते थे, ऐसा समझने के लिए ऋग्वेद में तिलमात्र भी स्थान नहीं है।"

इन्द्र के भक्तों के समान ही अन्य देवताओं के भक्तों ने भी अपने सूक्तों में अपने इष्ट देवों का उत्कट आत्मीयता से वर्णन किया है। "**तुका म्हणे जे जे बोला। ते ते साजे विट्ठला।**" (संत तुकाराम कहते हैं कि भक्ति में जो कुछ भी बोला जाय वह सब विट्ठल को शोभा देता है।) इस पंक्ति का भाव ही इन वर्णनों में व्यक्त हुआ है।

तात्पर्य यह कि सगुणोपासना व सगुण साक्षात्कार से लेकर समस्त जगत् को व्याप्त करने वाले निर्गुण निराकार के अद्वय साक्षात्कार तक के व 'धीमहि' सरीखे शब्दों द्वारा व्यक्त होने वाले ध्यानयोगादि साधनमार्गों के वैदिक साहित्य में स्पष्ट उल्लेख यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं कि भारतीय भावजीवन का तत्त्वज्ञान रूपी आधार ऋग्वेद काल में ही सिद्धावस्था प्राप्त कर चुका था तथा वही आधार आज भी भारतीय भावजीवन के मूल में विद्यमान है। यह सत्य है कि अनुभूति के ये उल्लेख व साधनमार्गों के भी उल्लेख अत्यल्प हैं। परन्तु इस संबंध में विख्यात तत्त्वज्ञ प्रा० रा० द० रानडे उपनिषदों का विवेचन करते हुए जो कहते हैं वह मननीय है। श्री रानडे कहते हैं—

"हमारे स्वत: के द्वारा प्राप्त सानुभव अंतर्ज्ञान के आगे जिस प्रकार अप्रत्यक्ष बौद्धिक शब्दज्ञान पंगु एवं व्यर्थ सिद्ध होता है, उसी प्रकार आत्मानुभूति का वर्णन शब्दों द्वारा करना अपूर्ण व हीन सिद्ध होता है, यह बात उपनिषत्कालीन ऋषियों को पूर्णरूप से ज्ञात थी। इसलिए उन्होंने आत्मज्ञान का विस्तृत

वर्णन कहीं न देते हुए सहज रूप में उसका अल्प दिग्दर्शन मात्र कर दिया है तथा उसे प्राप्त करने के मार्ग का केवल उल्लेख मात्र कर दिया है। सच्चे परमार्थान्वेषी साधकों को प्रायः अंधकारमय प्रवास वाले परमार्थ मार्ग में मार्गदर्शक दीपस्तंभ कहाँ कहाँ हैं यह ज्ञात हो सके, इसीलिए प्रत्यक्ष अनुभव के संबंध में भी यदि कुछ बताना हो तो उसे प्रच्छन्न रूप में सावधानी के साथ बताना होता है। इसीलिए उपनिषदों में आत्मानुभव के बारे में जो कुछ भी लिखा गया है, वह वस्त्र में लपेटे रत्न के समान बौद्धिक वस्त्र के नीचे ढँककर रखा गया है व जिनमें यह परखने की शक्ति है वे ही उसे देख सकते हैं और उन्हीं को उसके अमाप मूल्य का ज्ञान होता है।''

इस प्रकार वैदिक राष्ट्र के अंतरंग का हमने दर्शन किया। एक बार इस सबका सिंहावलोकन कर उससे निकलने वाले सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कर आगे हम इस विषय का उपसंहार करेंगे।

४

उपसंहार

किसी भी राष्ट्र के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि उसमें अपनी 'अस्मिता' की प्रखर अनुभूति विद्यमान हो। और भारत सरीखे राष्ट्र के लिए तो, जो आज पुनर्गठन की सीमारेखा पर खड़ा हुआ है, यह अनुभूति रहना और भी अधिक आवश्यक है, अन्यथा कहीं पुनर्गठन के सुन्दर सलोने नाम के नीचे राष्ट्रीय आत्मा की ही हत्या न हो जाय। व्याख्यानमाला के लिए इस विषय का चुनाव करते समय हमारा ध्येय यही था कि भारतीय राष्ट्र की अस्मिता को उसकी विशेषताओं सहित दिग्दर्शित किया जाय। आज भारत स्वतंत्र हो गया है और इस समय स्वतंत्र भारत के पुनर्गठन संबंधी विविध प्रश्नों की गम्भीर चर्चा चली है; यहाँ तक कि भारतीय हिन्दुसमाज के आमूलाग्र पुनर्गठन का विचार भी आज व्यवहार में अवतरित होता हुआ दिखाई दे रहा है। इस कारण 'हम कैसे रहें' इसका विचार करने के पूर्व 'हम कौन हैं' इसकी स्पष्ट कल्पना होना अत्यंत आवश्यक है यह किसी भी विचारवान् व्यक्ति को मान्य होगा। भारतीय राष्ट्रपुरुष के संबंध में 'हम कौन हैं ?' का प्रश्न उपस्थित करते ही उसका जगत् के समस्त राष्ट्रों में भिन्न एक विशिष्ट स्वरूप हमारी दृष्टि के सामने सहज ही आ खड़ा होता है। जगत् के रंगमंच पर भारत ही एकमेव ऐसा राष्ट्र है जिसका भावजीवन प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप में चला आ रहा है। इतर समस्त राष्ट्रों ने जन्म मृत्यु की अनेक परम्पराओं में प्रवास का अनुभव किया है, किन्तु भारत ही एकमेव ऐसा अद्वितीय राष्ट्र है जिसका जन्म कब हुआ यह कोई बता नहीं सकता और मृत्यु ने तो जिसका आज तक स्पर्श ही नहीं किया। प्रस्तुत व्याख्यानमाला के प्रारम्भिक भाषण में विस्तारपूर्वक हमने इस बात का विवेचन किया। यह भी अनेक बार सिद्ध हो चुका है कि प्रादेशिक राष्ट्रवादी भी जब इस मृत्युंजय राष्ट्र का विचार करने लगते हैं तो वे भी इसकी अजेय व प्रखर जीवनदीप्ति से समुद्भासित हुए बिना नहीं रहते। ऐसे भारतीय राष्ट्र की अस्मिता को खोजने के लिए हमें वेदों के काल तक पीछे जाना पड़ेगा। डॉ० केतकर सरीखे लेखकों ने भी अपने ज्ञानकोश में इस बात का मंडन किया है कि भारत राष्ट्र की प्राचीनता का बोध प्राप्त करने के लिए वेदों का अभ्यास करना

नितान्त आवश्यक है। किन्तु वेदों में अपने राष्ट्र के आदि की खोज करने के पूर्व 'वेद क्या हैं ? व भारतीय राष्ट्रजीवन में उनका क्या स्थान है,' यह देखना अत्यंत आवश्यक था।

इस दृष्टि से हमने देखा कि गत सहस्त्रावधि वर्षों के काल में भारतीय राष्ट्र के जीवन में वेदों ने कितना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है तथा वह आज तक किस प्रकार अक्षुण्ण बना हुआ है। आज भी भारत का हिन्दु अपनी विभिन्न संस्कार विधियों को संपन्न करते समय जो संकल्प करता है वह **"श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त फल प्राप्त्यर्थं"** ही करता है। जीवन की यह रचना अत्यंत प्राचीन है। मनु एवं उनके बाद के समस्त स्मृतिकारों, रामायण, महाभारत आदि इतिहास ग्रंथों, समस्त पुराणों, समस्त धर्मशास्त्रकारों एवं आस्तिक दर्शनों के प्रणेताओं ने तो सैकड़ों वर्षों से इस वेदनिष्ठा का पोषण किया ही है, किंतु "वास्तविक वेद हमें ही ज्ञात हैं," ऐसा कहने वाले जैन सरीखे अवैदिक संप्रदायों में भी वेदसंबंधी आकर्षण हम पाते हैं। मनु से लेकर संत ज्ञानेश्वर, तुकाराम, बहिणाबाई तक की सहस्त्रावधि वर्षों की परम्परा में वेदों ने यह जो विलक्षण श्रद्धा का स्थान प्राप्त किया है उससे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय भावजीवन को समझने के लिए वेदों का अनुशीलन करना कितने महत्व व श्रद्धा की बात है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कुरान व बाइबिल के समान वेदों की निष्ठा तलवार के आधार पर टिकाये रखने का किंचिन्मात्र भी प्रयत्न नहीं हुआ। भारतवर्ष में धार्मिक सहिष्णुता व मत की स्वतंत्रता पराकाष्ठा तक पहुँची हुई थी। यहां तक कि इस देश के ऊपर दारुण अत्याचार करने वाले लोगों को अपनी खड्ग की शक्ति के द्वारा नतमस्तक करा लेने के पश्चात् भी भारतीयों ने उनसे कभी प्रतिशोध नहीं लिया। वेद सरीखे पूज्य राष्ट्रीय ग्रंथ को भण्डधूर्त निशाचरों की कृति बताने वाले चार्वाक के मतस्वातंत्र्य को भी भारतीयों ने कभी नष्ट नहीं किया और न ही उसे उसके लिए उसे किसी प्रकार की यातना ही दी। यही नहीं, माधवाचार्य ने तो अपने सर्वदर्शन संग्रह में चार्वाक को भी दर्शनकार का स्थान दे रखा है। इस भू-पटल पर इस प्रकार की उदारता का उदाहरण इतरत्र किसी भी राष्ट्र में प्राप्त होना संभव नहीं। इतना होने पर भी महर्षि अण्णासाहेब पटवर्धन व लोकमान्य तिलक तक जो वेदनिष्ठा की अक्षुण्ण परम्परा दृष्टिगोचर होती है उससे हमारे राष्ट्रजीवन में वेदों के असामान्य महत्व का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। वेद व वेद के समान ही पूज्य माने जाने वाले रामायण, महाभारत, भागवतादि ग्रंथों में एक महत्वपूर्ण अंतर है। वेदेतर ग्रंथ पूज्य माने जाने के पश्चात् भी उनमें वास्तविक महत्व उनके शब्दों में न होकर उनके अर्थ को है। किन्तु वेदों में अर्थ से भी अधिक महत्व शब्दों को है तथा स्वर प्रक्रिया के समान उन शब्दों के उच्चारण की

एक विशेष पद्धति है। और उस स्वर प्रक्रिया पर ही उन मंत्रों का अर्थ भी विशेषतः अवलम्बित है। भारतीयों की श्रद्धा है कि वेद मंत्रमय वाणी है तथा वह वाणी प्रत्यक्ष ईश्वर के मुख से निसृत हुई है। कई शास्त्रकारों का तो स्पष्ट मत है कि वेद ही प्रत्यक्ष ईश्वर हैं अथवा ईश्वर का नादस्वरूप ही वेद हैं। इस प्रकार के मत का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रकार कोई भोले भाले लोग नहीं थे अपितु श्रेष्ठ प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे, जिनकी पारदर्शी व कुशाग्र बुद्धि की लोकमान्य तिलक ने अपने ग्रंथ* में मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। भारतीय भावजीवन की दृष्टि से वेदों के महत्व का आकलन कर लेने के पश्चात् यह अत्यंत आवश्यक प्रतीत हुआ कि वेदों में जिन लोगों का जीवन प्रतिबिंबित हुआ है वे लोग कौन थे, इसकी छानबीन की जाय। क्योंकि पहले यद्यपि प्रत्येक के मन में इस बात का दृढ़ विश्वास था कि वेदों का जीवन हमारे पूर्वजों का ही जीवन था तथा इस संबंध में किसी के मन में यत्किंचित् भी संदेह नहीं था तथापि गत डेढ़ सौ वर्षों के अँग्रेजी संस्कारों के परिणामस्वरूप हमारे मन में उत्पन्न हुई इस मनोवृत्ति ने कि **"यद्वै किंचन साहेब अब्रवीत्तद् भेषजम्,"** इस संबंध में पर्याप्त संभ्रम उत्पन्न कर दिया है। इस देश के बाहर एशिया माइनर से लेकर उत्तरध्रुव तक के क्षेत्र में कोई एक आर्यन् वंश रहता था, कदाचित् सुमेरियन् व वे एक ही थे; ग्रीक, केल्टिक आदि विविध वंशशाखायें इसी आर्यन् वंश की शाखायें हैं व उनमें से जो शाखा हिन्दुस्थान की ओर आई उसी के जीवन का प्रतिबिंब वेद साहित्य में प्रगट हुआ है, यह धारणा आज इतनी दृढ़मूल हो गई है कि उच्चविद्यालयीन अभ्यासक्रम में भी ये बातें हठपूर्वक सिद्धान्त कहकर भारतीय विद्यार्थियों की बुद्धि में ठूंसने का प्रयास किया जाता है, जैसे मानों ये सिद्ध किये हुए सिद्धान्त ही हों। वैदिक एवं इतर जगत् की भाषाओं में दिखने वाले साम्य के आधार पर एक यह भी सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है कि ये सारे ही लोग मूलतः किसी एक ही वंश के थे। वेदों के सहारे इन बातों का परीक्षण करना आवश्यक था ही किन्तु इसके पूर्व और एक बात की ओर ध्यान देना आवश्यक था। वह बात याने वेदों का कालनिर्णय। अतः आगे हमने प्रथमतः इस कालनिर्णय के प्रश्न के बारे में विचार किया।

वेदों का कालनिर्णय करने के लिए मुख्यतः भाषा, भौगोलिक उल्लेख, भूगर्भशास्त्र व ज्योतिष—इन चार साधनों का उपयोग किया जाता है। इनमें से भाषा का साधन कितना अविश्वसनीय है व उसके आधार पर निश्चित किया गया मेक्समुल्लर का सिद्धान्त, जो आजकल रूढ हो गया है, मूलतः कैसा गलत था इसका हमने विस्तारपूर्वक विचार किया। स्वतः मेक्समुल्लर

---

*Arctic Home in the Vedas.

ने जिस बात को अनुमानजन्य कहा उसे ही लोग आँख मूँदकर सिद्धान्त की संज्ञा देते हैं, यह अनुसंधान-जगत् के लोकविभ्रम का एक अनोखा प्रकार है इसमें किंचित् भी संदेह नहीं। भाषाशास्त्रज्ञों द्वारा ज्योतिषशास्त्रज्ञों के, ज्योतिषशास्त्रज्ञों द्वारा भाषाशास्त्रज्ञों के, इन दोनों के द्वारा भूगर्भशास्त्रज्ञों के व भूगर्भशास्त्रज्ञों द्वारा बाकी सबके पर्याप्त मात्रा में दोषदर्शन करा देने के पश्चात् भी वेदकालनिर्णय की दृष्टि से ये सारे ही प्रमाण समानरूप से अंशतः उपयुक्त व अंशतः भ्रमोत्पादक सिद्ध होते हैं, यह हमने विस्तारपूर्वक विविध क्षेत्रों के विभिन्न मतों का समालोचन करके देखा। पुराण वंशावली का आधार भी इस संबंध में कितना भ्रमोत्पादक है, यह हमने वहीं पर डॉ० केतकर द्वारा किये गए ऋग्वेद के दाशराज्ञ युद्ध संबंधी विवेचन का हवाला देते हुए बताया। सामान्यतः लोकमान्य तिलक द्वारा दर्शाया गया काल बहुतांश में मान्यता प्राप्त है। किंतु यहाँ पर 'वेदों का काल याने क्या ?' इस बात का ठीक ठीक ध्यान रखना चाहिए। यहाँ वेदकाल का अर्थ केवल इतना ही है कि अमुक इतने वर्षों के इस पार वेदों का काल लाया ही नहीं जा सकता। किंतु उधर कितने प्राचीन काल तक जाना चाहिए, यह कोई भी नहीं बता सकता। लोकमान्य तिलक ने 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज़' में बड़े ही उत्कृष्ट ढंग से यह दर्शाया है कि किस तरह वेदों के अनादित्व संबंधी प्राचीन ब्रह्मवादियों के मत को आधुनिक अन्वेषकों को भी अज्ञेयत्व की परिभाषा में मान्य करना पड़ा है। लोकमान्य ने यद्यपि वैदिक संहिता को कालनिर्णय की कक्षा के अंतर्गत माना है, किन्तु वैदिक संस्कृति के संबंध में उनका मत है कि वह उसके पूर्व न जाने कितने वर्षों से अस्तित्व में थी एवं उसका मूल भूगर्भशास्त्र में लुप्त हो जाने के कारण उसे ढूँढ़ निकालना किसी के वश की बात नहीं है। किन्तु इस पर श्री अप्रबुद्ध यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि विकसित संस्कृति के अनादित्व को मान्य कर लेने के पश्चात् यह कहना कि उस काल में केवल संहितीकरण अथवा मंत्रत्व मात्र नहीं था, क्या तात्पर्यहीन नहीं है ? लोकमान्य सरीखा मत ही प्रो० मेक्समुल्लर ने भी प्रगट किया है। 'धर्म' विषय सम्बन्धी अपनी व्याख्यानमाला में वे कहते हैं कि वेदों के काल के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि अमुक इतने वर्षों के आगे उसे नहीं खींचा जा सकता; किन्तु उनका आदि कब था यह कोई नहीं बता सकता। वेदकालनिर्णय के इस विचार के पश्चात् वेदों के स्थल का निर्णय करना क्रमप्राप्त ही था। किन्तु इसके पूर्व जिन लोगों का स्थलनिर्णय करना है वे थे कौन ? इस सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न धारणाओं का समालोचन करना आवश्यक होने के कारण हमने पहले उस प्रश्न को हाथ लगाया।

वेदों में आर्य व दस्यु शब्द बारम्बार प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु वेद के 'आर्य' शब्द का उस 'आर्यन्' शब्द से जिसका पाश्चात्य अन्वेषकों ने खूब ऊदो-ऊदो

मचाया है, किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध कम से कम वेदों के आधार पर तो नहीं दिखाई देता। पाश्चात्यों द्वारा प्रतिपादित आर्यन् वंश का, जिसे कुछ भारतीय अन्वेषकों ने भी मान्यता दी है, इस पृथ्वीतल पर अस्तित्व था या नहीं, यह हमारे विचार का विषय नहीं है। न हम यह कहते हैं कि वह था और न ही हमारा यह आग्रह है कि वह नहीं था। हमारा कहना इतना ही है कि इस तथाकथित आर्यन् वंश का वैदिक आर्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध में डॉ० श्री० व्यं० केतकर का यह मत है कि दास्य मनोवृत्ति के कारण ही भारतीयों ने इस आर्यन् का पुरस्कार किया। अपने ज्ञानकोश में प्रतिपादित उनके इस मत को हमने उन्हीं के शब्दों में उद्धृत किया है। साहित्यिक आधार पर ही यदि साहित्य का अभ्यास किया जाय तो हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर आया हुआ 'आर्य' शब्द कहीं भी वंशवाचक के नाते प्रयुक्त नहीं हुआ है। ऋग्वेद में सब स्थानों पर आर्य शब्द सभ्य, शिष्ट, संस्कृतिसम्पन्न व मन से विकसित श्रेष्ठ योग्यता व आचरण वाले पुरुष के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। एक विशिष्ट गुण वाला पुरुष किसी एक विशिष्ट वंश का ही हो सकता है, यह मानना भ्रम है। क्योंकि इस सम्बन्ध में "**दैवायत्तं कुले जन्मं, मदायत्तुं तु पौरुषम्**" का सिद्धान्त सदैव लागू होता है। एकबार यह अनुमान मान्य कर लेने पर कि मूल आर्यन् वंश के लोग यूरोप में रहते थे तथा वहाँ से वे हिन्दुस्थान में आये, हमें इसके आगे की शृंखला को भी मान्य करना क्रमप्राप्त हो जाता है यथा—वे सीधी नाक व भूरी आँखों वाले तथा आज के यूरोपियनों के समान श्वेतवर्णीय थे और उन लोगों ने यहां आकर यहाँ के मूल भारतीयों पर अपना अधिराज्य जमाया। और चूंकि इस कल्पना में हमारा सम्बन्ध विजेताओं से प्रस्थापित होता है इसीलिए हमारे तथाकथित भारतीय अन्वेषकों ने इस कल्पना का परिपोष कर बड़े समाधान का अनुभव किया, ऐसा डॉ० केतकर का स्पष्ट मत है। किन्तु ऋग्वेद में तो यह शब्द वंशवाचक है ही नहीं, इस कारण भूरी आंखें, श्वेतवर्ण, कृष्णवर्णीयों पर आक्रमण आदि बातें केवल कपोलकल्पित ही सिद्ध होती हैं। ऋग्वेद में एक सूक्त के ऋषि कण्व हैं जो आर्य थे, किन्तु उनके बारे में यह स्पष्ट उल्लेख है कि वे काले थे। ऋग्वेद में तो आर्य शब्द के वंशवाचक न होने का एक और भी प्रबल प्रमाण है और वह यह कि आर्य दस्यु हो सकते थे और इसके विपरीत दस्यु भी एक विशिष्ट पद्धति से आचरण करने पर आर्य हो सकते थे। यदि आर्य शब्द वंशवाचक अथवा रक्तबीजनिदर्शक होता तो रक्तबीज अथवा वंश में ऐसा शीघ्र परिवर्तन कैसे सम्भव हो सकता था, यह प्रश्न अन्वेषकों के लिए विचारणीय है। आज यदि कोई मनुष्य ईसाई धर्म की दीक्षा लेता है तो वह ईसाई मतानुयायी तो बन जायगा किन्तु इस कारण वह नार्डिक अथवा एंग्लो-सेक्सन वंश का नहीं हो सकता। ठीक ऐसी ही बात

'दस्यु' शब्द के सम्बन्ध में भी है, व इस कारण अनार्य अथवा द्रविड़ वंश का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। द्रविड़ वंश एकबारगी हो भी सकता है किन्तु शुद्ध द्रविड़ संस्कृति का अस्तित्व तो बिल्कुल भी सिद्ध नहीं होता, यह बात द्रविड़ों का दुर्दान्त अभिमान रखने वाले अन्वेषक भी अब मानने लगे हैं। ऋग्वेद में 'आर्य' शब्द जिस प्रकार गुणवाचक है उसी प्रकार 'दस्यु' शब्द भी गुणवाचक ही है। ऋग्वेद में अयज्वे, अव्रती, मुरदेव, शिश्नदेव आदि शब्द दस्युओं के विशेषण के नाते आये हैं। वहां दस्यु का वर्णन यज्ञधर्म न माननेवाले, किसी भी प्रकार के निर्बन्ध का पालन न करने वाले, स्वैराचारी, उच्छृंखल प्रवृत्ति के, मूर्खतापूर्वक चाहे जिस देव की उपासना करने वाले तथा वासनामय व कामलंपट व्यक्ति के नाते हुआ है। वे मूलतः आर्य ही थे किन्तु उनकी उच्छृंखलता के कारण आर्य उन्हें क्षुद्र समझते थे। पणि नाम का भी कोई भिन्न लोकसंघ नहीं था। उसके बारे में डॉ० अविनाशचन्द्र दास ने बड़ी उत्कृष्टतापूर्वक दर्शाया है कि वे उच्छृंखल वृत्ति के व्यापारी थे। दस्युओं के लिए आये हुए विभिन्न विशेषणों में से 'अनास' व 'शिश्नदेव' इन दो विशेषणों के आधार पर अन्वेषकों ने द्रविड़ संस्कृति का भव्य भवन खड़ा किया है। उन्होंने अनास शब्द का सरल सा अर्थ बिना नाकवाला बताकर उस आधार पर यह अनुमान लगाया है कि द्रविड़ चपटी नाकवाले होते थे और इस कारण आर्य सीधी नाक वाले ही होना चाहिए। किन्तु यहां 'अनास' शब्द चपटी नाकवालों के लिए प्रयुक्त न होकर उन अशुद्ध वाणी के लोगों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिन्हें भाषा के अनुनासिकों का उच्चारण नहीं आता था। ऋग्वेदीय आर्यों को सर्वाधिक अभिमान यदि किसी बात का था तो वह था अपनी भाषा का। असुरों को 'र' का उच्चारण नहीं आता था इसलिए उनका पराभव हुआ (**ते असुराऽहेलयो हेलय इति ब्रुवन्तो पराबभूवुः।**) ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। उसी प्रकार 'शिश्नदेव' शब्द का भी विस्तारपूर्वक विचार करके हमने देखा कि उस शब्द के आधार पर द्रविड़ों के लिंगपूजक होने का अनुमान लगाना सर्वथा अनुचित है क्योंकि ऋचा के संदर्भानुसार शिश्नदेव का अर्थ मातृदेव, पितृदेव आदि शब्दों के अनुसार शिश्नपरायण अथवा कामलंपट मानना ही पूर्णयुक्तिसंगत एवं यथार्थ प्रतीत होता है। वहाँ हमने यह भी बताने का प्रयास किया कि भाषासाम्य सरीखे साम्यों की तलवार दुधारी होती है व पराक्रमी व संस्कृतिसम्पन्न वैदिक लोगों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति के कारण भी ऐसे साम्यों का निर्माण हो सकता है। इसके पश्चात् हम इससे सम्बन्धित व आजकल बड़े ही विवाद का विषय बने हुए वैदिक लोगों के स्थल सम्बन्धी प्रश्न की ओर अग्रेसर हुए।

आर्य लोग मूलतः हिन्दुस्थान के बाहर के ही होना चाहिए, यह सिद्धान्त पक्की तरह ग्राह्य मानकर हिन्दुस्थान के बाहर उनके स्थान की खोज करने

का सर्वप्रथम प्रयास यूरोपीय अन्वेषकों ने किया। एशिया माइनर से लेकर काकेशस पर्वत की तराई तक आर्यों के मूलगृह के सम्बन्ध में विविध तर्क उपस्थित किये गये। किन्तु लोकमान्य तिलक द्वारा अपने ग्रंथ "आर्कटिक होम इन दि वेदाज्" में प्रतिपादित किये गये ध्रुवसिद्धान्त ने अन्य सब सिद्धान्तों को पीछे डाल दिया। 'ओरायन्' ग्रंथ की निर्मिति के पश्चात् लोकमान्य ने जब ऋग्वेद का और अधिक वाचन किया तब उन्हें उसमें दीर्घ उषा, नक्षत्रमंडलों का सिर के ऊपर चक्राकार फिरना, दीर्घ रात्रि व उससे ब्राह्मणों को लगने वाली भीति आदि के उल्लेखों को देखकर यह प्रतीत होने लगा कि वैदिक लोगों ने अथवा उनके पूर्वजों ने ये बातें कहीं न कहीं प्रत्यक्ष अवश्य ही देखी होंगी। हिन्दुस्थान की जलवायु, दिनमान, ऋतु, भौगोलिक स्थिति आदि बातों से वैदिक लोग परिचित थे इसमें तो संदेह ही नहीं। किन्तु अत्यल्पमात्रा में होने पर भी जो बातें केवल ध्रुववृत्त में या कुछ थोड़े बहुत अन्तर से उत्तर ध्रुव प्रदेश के निकट के प्रदेश में ही सम्भव थीं, उनका इतनी सरलता के साथ हुआ वर्णन देखकर लोकमान्य ने मन में सोचा कि उस प्रदेश से अत्यन्त निकट का परिचय हुए बिना ऋग्वेद में उनका उल्लेख होना सम्भव ही नहीं। परन्तु इस कारण यदि यह माना जाता कि वैदिक आर्य किसी काल में उत्तरध्रुव प्रदेश में रहे होंगे, तो दूसरी बड़ी अड़चन सामने आती थी और वह यह कि उस अत्यन्त ठंडे व हिममय प्रदेश में मनुष्य का निवास संभव ही कैसे था? किन्तु भूगर्भशास्त्र के अनुसन्धानों ने उनकी यह अड़चन दूर कर दी। (भूगर्भशास्त्र ने उनको यह प्रमाण उपलब्ध करा दिया कि ध्रुवप्रदेश की आज की अवस्था, जो मनुष्य निवास के अनुकूल नहीं है, हिमप्रलय के कारण उत्पन्न हुई है; हिमप्रलय के पूर्व के काल में इस क्षेत्र की जलवायु समशीतोष्ण होने के कारण मनुष्य वसति के लिए योग्य थी। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि उस काल में आर्यों का वहां अवश्य ही निवास रहा होगा, क्योंकि तभी तो उनकी वाणी में से अपने मूलगृह की भौगोलिक स्थिति के वर्णन प्रगट हुए। इस सिद्धान्त के कारण अन्वेषक-जगत् में भूगर्भशास्त्र का मनचाहा उपयोग कर वेदों का स्थलनिर्णय करने की प्रवृत्ति बलवत्तर हुई। डॉ॰ अविनाश चन्द्रदास ने यह कल्पना प्रस्तुत की कि ऋग्वेद में सरस्वती नदी के समुद्र में मिलने का वर्णन प्रत्यक्ष भौगोलिक वर्णन है और भूगर्भशास्त्र के आधार पर उन्होंने बताया कि यह स्थिति उस काल में रही होगी जब राजपूताना समुद्र था। वह काल २७००० वर्ष पूर्व का होने के कारण ऋग्वेद का काल उससे भी पूर्व का होना चाहिए। भूगर्भशास्त्र का आधार लेने के सम्बन्ध में डॉ॰ अविनाशचन्द्र दास को दूषण देना अनुचित है, यह हमने उनके प्रतिपादन का इतर दृष्टि से परीक्षण करते हुए बताया है। डॉ॰ दास ने लोकमान्य के सिद्धान्त को भी कसकर कसौटी पर कसा है। उनका

कथन है कि लोकमान्य के ध्रुवसिद्धान्त का पोषक एक भी प्रमाण ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता। उनके इतर आक्षेप तो अधिक टिकने लायक नहीं हैं, किन्तु उनका एक आक्षेप अत्यन्त महत्व का है। वह यह कि ऋग्वेदीय आर्य यदि वास्तव में उत्तरध्रुव प्रदेश के ही निवासी थे तो उनके साहित्य में अपने मूल-गृह तथा उसे छोड़ने के लिए बाध्य करने वाले दुर्दैवी प्रसंग का अवश्य ही उल्लेख हुआ होता। किन्तु इस सम्बन्ध में एक भी स्पष्टार्थदर्शक शब्द वहाँ प्राप्त नहीं होता। इस पृथ्वीपटल पर एक भी जाति ऐसी नहीं है, जो अपनी मातृभूमि अथवा अपने मूलगृह के सम्बन्ध में इतनी विस्मरणशील हो जाय। ऐसी अवस्था में समुन्नत ऋग्वेदीय लोगों के सम्बन्ध ही में ऐसी बात कैसे सत्य हो सकती है ? उनके कथनानुसार लोकमान्य द्वारा प्रस्तुत किये गये ऋग्वेद के प्रमाण रूपकात्मक व संदिग्ध हैं तथा तदुत्तरकालीन साहित्य में उनका आधार ऋग्वेदकालीन घटना सिद्ध कर सकने में असमर्थ है। श्री दास के सरस्वती नदी के प्रमाण एवं उस पर किये जाने वाले विभिन्न आक्षेपों का परीक्षण करने के पश्चात् जहाँ हमने यह देखा कि उनका वह प्रमाण टिक नहीं सकता, वहाँ हमने यह भी देखा कि लोकमान्य के ध्रुवसिद्धान्त को एकदम उपेक्षित नहीं किया जा सकता। भूगर्भशास्त्र के आधार पर कुछ लोगों का कथन यह भी है कि उस समय उत्तर ध्रुव ही भारत के बिहार प्रान्त में अवस्थित था। कुछ लोग राजनैतिक कारणों से प्रेरित होकर लोकमान्य के ध्रुवसिद्धान्त का दुरुपयोग भी करते हैं। एक बार मुस्लिम लीग के एक अधिवेशन में अध्यक्षपद से बोलते हुए जिन्ना ने स्पष्ट कहा था कि "हम लोगों की संस्कृति तो भारत के बाहर से आई है, किन्तु आप लोग भी तो भारत के बाहर से ही यहाँ आये हैं। पहले आये हुए चोर का बाद में आने वाले चोरों से यह कहना कि तू ही वास्तविक चोर है, कहां तक उचित है ? ऐसे होहल्ले का कोई अर्थ नहीं।" हमने इस प्रकरण में समस्त प्रतिपादनों की चर्चा कर यह निष्कर्ष निकाला कि लोकमान्य का ध्रुवसिद्धान्त मान्य कर लेने पर भी उत्तरध्रुव को आर्यों का मूलस्थान मानने का तथा उन्हें बाहर से आया हुआ सिद्ध करने का कोई कारण नहीं है। मूलस्थान का मूलस्थान के नाते निर्देशित किया जाना इतनी महत्वपूर्ण घटना है कि उसका ऋग्वेद में उल्लेख होना अत्यावश्यक है। और चूँकि उत्तर ध्रुव के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है, इस कारण उत्तरध्रुव आर्यों का मूलस्थान न होकर उनका उपनिवेश ही रहा होगा। पराक्रमी आर्यों के लिए अपने मूलस्थान हिन्दुस्थान से ध्रुव सरीखे वसतिक्षम प्रदेश में जाकर वहां एकाध उपनिवेश बसाना सहज सम्भव बात थी। मेसिडोन का राजा सिकन्दर यदि सुदूर ग्रीस से लेकर पंचनद तक के देशों का जीत सकता है तथा चंगेज़खान सरीखा मंगोलिया का निवासी यदि स्पेन तक के देशों को धूल में मिला सकता है, तो सौ-सौ किलों से युक्त

शत्रुओं के नगरों को धराशायी करने वाले आर्य ध्रुव प्रदेश पर्यन्त नहीं जा सकते थे यह मानना उनकी विजिगीषु मनोवृत्ति के सम्बन्ध में अपनी कल्पना की क्षुद्रता के अतिरिक्त और किस बात का द्योतक हो सकता है ? लोकमान्य के सिद्धान्त से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि आर्यों को उत्तर ध्रुव प्रदेश का ज्ञान था। भारत की भौगोलिक स्थिति का तथा उसके बारे में वैदिकों द्वारा व्यक्त किये गये विलक्षण आत्मीयता के उद्गारों का ऋग्वेद में जो वर्णन है, उसके आधार पर भारत ही उनकी मूलभूमि सिद्ध होती है। हिम-प्रलय की आपत्ति के कारण यदि आर्य लोग अपने मूलस्थान को छोड़कर भारत में आये होते तो आयरिश, स्वीडिश, इंग्लिश, ट्यूटोनिक सुमेरियन आदि लोगों के समान उन्हें भी अपने मूलस्थान की स्मृति अवश्य रही होती। इस दृष्टि से इस सम्बन्ध में पूछा गया श्री जयनाथपति का निम्नलिखित प्रश्न अतिशय मार्मिक है। वे डॉ० चटर्जी से पूछते हैं—

"Have you ever found cultured foreigners forgetting their old homes and becoming enamoured of their newly made conquest?" (Indian Historical quarterly Vol. 4 No. 4 Dec. 1928 p. 679)

स्पष्ट ही हिमप्रलय व मूलगृह नष्ट होने की बात का ऋग्वेद से कोई संबंध नहीं है; ये बातें बाद के साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। वे आर्य, जिनके संग्रामों में पाँच-पाँच लाख लोगों तक के मारे जाने का उल्लेख है तथा जिनकी भुवनाधिपत्य की आकांक्षा ऋग्वेद के उल्लेखों द्वारा सिद्ध होती है, अपने साम्राज्य को व उस कारण अपने उपनिवेशों को उत्तरध्रुव प्रदेश तक, यदि वह वसतिक्षम रहा होगा, बढ़ा नहीं सकते थे यह सोचना ही गलत है। यह तो उनके लिए सहजसंभव बात थी। लोकमान्य के ध्रुवसिद्धान्त को मान्य कर लेने पर भी भारत ही आर्यों का मूलस्थान है इस सिद्धान्त का विरोध नहीं होता। प्रत्युत इससे उनके ध्रुवसिद्धान्त के ऊपर किये गये आक्षेप ही नष्ट हो जाते हैं व वह अधिक सुसंगत मालूम होता है। ध्रुव प्रदेश में आर्यों का वास रहा होगा इतना ही लोकमान्य का संकेत है, जिससे केवल इतना सिद्ध होता है कि ध्रुव प्रदेश का उन्हें ज्ञान था। वह उनका मूलगृह था, यह बिल्कुल भी सिद्ध नहीं होता।

इतने विषयों की चर्चा करके हमने वैदिक राष्ट्र का बहिरंग विचार पूर्ण किया। इसके बाद उसके अंतरंग विचार के लिए सिद्ध होना स्वाभाविक ही था। किन्तु प्रत्यक्ष अंतरंग विचार का प्रारंभ करने के पूर्व वेद संबंधी एक और महत्वपूर्ण संकेत का शास्त्रीय स्पष्टीकरण करना आवश्यक था। वह संकेत था वेदों का अपौरुषेयत्व। भारतवर्ष में अत्यंत प्राचीन काल से यह दृढ़ धारणा विद्यमान है कि वैदिक वाणी केवल अर्थवती ही न होकर परिपूर्ण-

सामर्थ्यवती भी है तथा वह साक्षात् परमेश्वर की लीला से निःश्वसित हुई है। प्राचीन भारतीय साहित्य में एतद् संबंधी दो मत दृष्टिगोचर होते हैं। पहला मत है कि वेद प्रत्यक्ष परमेश्वर ने ही निर्मित किये हैं और इस दृष्टि से उन्हें पौरुषेय माना जाता है, क्योंकि पुरुष याने ईश्वर व उसने जो कुछ किया वह पौरुषेय। दूसरा मत है कि वेद परमेश्वर का ही नादमय आविष्कार होने के कारण ईश्वर ने ईश्वर का निर्माण किया यह कहना जितना हास्यास्पद है उतना ही हास्यास्पद यह भी है कि ईश्वर ने वेद का निर्माण किया। अतः वेदों का केवल प्रगटीकरण हुआ व वे किसी के द्वारा भी बनाये हुए न होने के कारण अपौरुषेय हैं। इससे यह स्पष्ट है कि पौरुषेय व अपौरुषेय शब्दों के संबंध में विद्यमान आज की कल्पना तथा प्राचीन कल्पना एक नहीं है। आज पौरुषेयत्व का अर्थ यह माना जाता है कि अन्य ग्रंथों के समान ही वेदों को भी किसी पुरुष अर्थात् मनुष्य ने ही निर्मित किया है। परमेश्वर को आदिसृष्टि याने नादमय वेद-स्वरूप, व उससे ही अर्थात् वेदों के शब्दों से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई ऐसा मनु, याज्ञवल्क्य, महाभारतकार आदि से लेकर श्रीमदाद्यशंकराचार्य, श्री ज्ञानेश्वर आदि तक के समस्त लोगों का प्रतिपादन होने के कारण यह विषय चर्चा का विषय बन जाता है। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार का विश्वास रखने वाले ये समस्त व्यक्ति महाप्रतिभासंपन्न एवं असीम सत्यनिष्ठ थे, जो असत्य शब्दोच्चार के स्थान पर अपनी जीभ कटा डालना ही अधिक श्रेयस्कर समझते थे। क्या वेदों से अर्थात् शब्दों से सृष्टि की उत्पत्ति संभव है ? इस प्रश्न का लोकमान्य तिलक ने अपने ग्रंथ ओरायन् में उल्लेख अवश्य किया है किन्तु वह इस ग्रंथ का विषय नहीं ऐसा कहकर उसे वैसा ही छोड़ दिया है। वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय इस संबंध में मेरा स्वयं का कोई आग्रह नहीं है। किंतु अपौरुषेयवादी लोगों में महर्षि अण्णासाहेब पटवर्धन सरीखे तपस्वी व प्राच्य व पाश्चात्य दोनों ही विद्याओं में निष्णात व्यक्ति विद्यमान होने के कारण मेरा यह निवेदन है कि इस धारणा के शास्त्रीय स्वरूप को हम समझ लें। इस प्रश्न की चर्चा करते हुए हमने सर्वप्रथम वेदों के स्वरूप, उनकी स्वरमयता व इन स्वरों के विशिष्ट संकेत, व्यूह व अष्टविकृति के रूप में उनके संरक्षण के उपाय व उच्चारण के गहनशास्त्र आदि का समालोचन किया व वेदवचनों के आधार पर यह देखने का प्रयास किया कि प्रत्यक्ष वेदों में ही उनके संबंध में उनके कितने गूढ़ व सामर्थ्यवान् होने की धारणा विद्यमान है। तदनंतर हमने यह देखा कि वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए प्राचीन मीमांसक जो युक्तियाँ प्रस्तुत करते थे, वे उनके काल में समाधानकारक होने पर भी आज निष्फल एवं अनुपयुक्त हैं। फिर हमने आज के प्रगत नादशास्त्र (Sound Theory) के आधार पर इस विषय का विचार करने का प्रयास

किया। उसमें हमें आधुनिक विज्ञान के आधार पर ही निम्न बातें दृष्टिगोचर हुईं—(१) शब्द अथवा नाद में उत्पादन सामर्थ्य है (२) प्रत्येक व्यक्त पदार्थ का सूक्ष्मरूप नादतरंगमय है तथा (३) प्रकाश व नाद एक ही वस्तु के पर्यायान्तर हैं, रूप व नाद में तत्वतः कोई अन्तर नहीं है। सृष्टि के व्यक्त पदार्थों के मूल 'नाद' को ही हमारे यहाँ वेद कहा है और व्यक्त पदार्थ अनंत होने के कारण उनके मूल रूप अर्थात् वेद भी अनंत माने गये हैं जैसा कि 'अनंता वै वेदाः' से स्पष्ट होता है। इन नादों को वहन करने वाले शब्द ऋषियों द्वारा तैयार किये हुए होने पर भी प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट नाद-तरंगों का केन्द्र है, इस कारण पर्यायवाचक कोई प्रतिशब्द उसके स्थान पर नियोजित नहीं किया जा सकता। वेदों के शब्द मूलतः इसी प्रकार के नाद-केन्द्र होने के कारण ऋषियों ने उनमें शक्ति का निवास माना है। इस प्रकार व्यक्त सृष्टि का आदिद्रव्य 'नाद' होने के कारण ऋषियों का यह कथन कि शब्द अथवा नाद से सृष्टि की उत्पत्ति हुई सर्वथैव उपयुक्त है। महर्षि अण्णा-साहेब पटवर्धन का इस विषय के संबंध में किया गया विवेचन सहायक होने के कारण मैंने उसे उन्हीं के शब्दों में उद्धृत कर इस विषय का समारोप किया। मंत्रों की शब्द-योजना भले ही ऋषियों द्वारा की गई हो, उससे जिस सामर्थ्य का एकत्रीकरण हुआ है वह तो अपौरुषेय ही है। इसीलिए ऋषियों को मंत्रद्रष्टा कहा गया है। आइंस्टीन ने सापेक्षतावाद खोज निकाला, इस कारण हम उसको उसका द्रष्टा कहते हैं कर्ता नहीं। यही बात यहाँ भी है। इस पर कुछ लोग यह कहते हैं कि वेद सरीखी श्रेष्ठ वस्तु परमात्मा द्वारा प्रदत्त मानने के स्थान पर यदि हम यह कहें कि हमारे पूर्वजों ने ही अपने कर्तृत्व से उनका निर्माण किया तो इससे हमारे पूर्वजों का गौरव बढ़ेगा। इस दृष्टि से उन्हें पौरुषेय कहना अधिक उपयुक्त है। किन्तु मेरा कहना यह है ही नहीं कि परमेश्वर ने लोगों को वेद प्रदान किये। मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि जिस प्रकार आइन्स्टीन ने सापेक्षतावाद की खोज की, उसी प्रकार ऋषियों ने सृष्टि के आदिद्रव्य नादतरंगों को खोज निकाला व उनका प्रस्तार वैदिक ऋचाओं के द्वारा उपनिबद्ध कर रखा। आज के शास्त्रों से जो बात सिद्ध होती है, वह उन्होंने इतने प्राचीन काल में ही ढूंढ़ निकाली थी इसमें उनका गौरव अधिक है। आइन्स्टीन को सापेक्षतावाद का द्रष्टा कहने से यदि उसका गौरव कम नहीं होता तो ऋषियों का ही गौरव क्यों कम होने लगा? अपौरुषेयत्व का संकेत समझने की दृष्टि से यह चर्चा की थी, विशिष्ट शास्त्र का अनुसरण कर की गई शब्द-रचना तो मनुष्य द्वारा ही की गई है। यह समझ लेने के पश्चात् हम वैदिक राष्ट्र के अंतरंग का विश्लेषण करने के लिए अग्रेसर हुए।

वैदिक राष्ट्र के अंतरंग का दर्शन करना याने मुख्यतः वैदिक भावजीवन

का दर्शन करना है। स्थूलमान से किसी राष्ट्र के दर्शन में उस राष्ट्र के लोगों का रहन सहन कैसा है, उनकी राज्य, सैन्य, आर्थिक व्यवस्थाएं कैसी हैं आदि बातों का समावेश होता है। किन्तु किसी राष्ट्र का यदि वास्तविक दर्शन करना हो तो वहाँ के लोगों की राष्ट्रीय अस्मिता अर्थात् उनके अंत-र्जीवन की धारणा, जीवनविषयक ध्येयवाद, नीतिमत्ता व उस पर आधारित सांस्कृतिक व्यवहार आदि का स्वरूप देखना आवश्यक हो जाता है। इस दृष्टि से हमने सर्वप्रथम वैदिक राष्ट्र के जीवनवाद का अध्ययन किया। शोपेनहर कहा करता था कि "जगत् में जन्म लेना ही सबसे अधिक बुरी बात है तथा उससे कुछ ही कम बुरा है तरुणाई में न मरना।" किंतु वैदिक राष्ट्र की धारणा में इस प्रकार का संकुचित निराशावाद कभी भी नहीं था। **"जीवेम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम शरदः शतम, भूयश्च शरदः शतम्"** अर्थात् हम सौ वर्ष जियें और इस जीवन में दैन्य हमारा कभी भी स्पर्श न करे, ऐसी सामर्थ्यशाली वैदिक राष्ट्र की हुंकार है। और यह बात चारों ही वेदों में परिलक्षित होती है। हम लोग पूर्णरूप से कार्यक्षम बने रहें, हमारा भोग व सुख स्वकष्टार्जित रहे, हम पराक्रमशाली होवें, शत्रुओं का निःपात करें, संग्रामों में सदैव विजयी होवें, जगत का श्रेष्ठतम ऐश्वर्य हमारे पराक्रम के द्वारा हमारे चरणों पर लोटे, ऐसी उच्च आकांक्षाएं वैदिक लोगों की थीं। उनकी समृद्धि व अन्न की माँग के आधार पर कॉमरेड डांगे ने उनकी जंगली अवस्था व बद्दू जीवन का जो अंदाज लगाया है, वह कितना मूर्खतापूर्ण है यह हमने देखा ही है। किन्तु वैदिकों के इस जीवनवाद को देखकर डॉ० केतकर ने जो यह अनुमान निकाला कि उनमें श्रेष्ठ नीतिमत्ता की कल्पनाएं नहीं थीं, वह भी किस प्रकार गलत है यह देखने के लिए उनके जीवनवाद के समीक्षण के बाद हमने उनकी नैतिक धारणा व नैतिक संकेतों का परिशीलन किया। भौतिक ऐश्वर्य के साथ ही साथ यदि हम उनके चारित्र्य, सत्यनिष्ठा, ईश्वरनिष्ठा, दानशीलता, दुर्गुणों से अप्रीति, आत्मा को अलंकृत करने वाले श्रेष्ठ सद्गुणों का पुरस्कार आदि बातों की ओर ध्यान दें तो उनकी श्रेष्ठ नीतिमत्ता की स्पष्ट कल्पना हमें आजायेगी। **'स्वप्नश्चेदनृतप्रयोता"** (स्वप्न में भी पाप से हमारा रक्षण कर), **"ते मा रक्षन्तु विस्रश्चरित्रात्"** (चरित्र्य भ्रष्ट करने वाली प्रत्येक बात से हमें दूर रख) आदि शब्दों द्वारा अत्यन्त आकुलता से परमेश्वर की प्रार्थना करने वाले लोगों के शीलचारित्र्य सम्बन्धी विचार कितने प्रखर व सूक्ष्म थे, यह बताने की आवश्यकता नहीं। अनेक सूक्तों के उदाहरण देकर मैंने डॉ० केतकर का अनुमान गलत सिद्ध किया ही है। हमने यह भी देखा कि ऐसे श्रेष्ठ नीतिसम्पन्न लोगों के नैतिक अंतर्जीवन में तथा भारतीय संस्कृति की अत्युन्नतावस्था के काल के नैतिक अंतर्जीवन में जरा भी भेद नहीं है। ऐसे श्रेष्ठ लोगों के बारे में कॉमरेड डांगे द्वारा किया

गया प्रतिपादन कि उनमें विवाह संस्था नहीं थी व अनिर्बंध स्वैराचार व संभोग चला करता था, कितनी धृष्टता व मूर्खता का तथा विडम्बनात्मक है यह मैंने सूर्यसूक्त, यमयमीसूक्त व द्यूतसूक्त के स्पष्ट उद्धरणों का हवाला देकर बताया ही है। श्रेष्ठ नैतिक जीवन उत्पन्न करने के लिए पशुभाव-विशिष्ट मानव को बचपन से ही जीवन की सूत्रबद्ध योजना बनाकर श्रेष्ठ संस्कार प्रदान करने की आवश्यकता हुआ करती है। वैदिक राष्ट्र में अत्यन्त प्राचीन काल में ही इसका विचार हो चुका था और इसी के अनुरोध से चार आश्रमों की योजना बनाई गई थी। प्रत्यक्ष जीवनयापन के लिए आवश्यक होने वाली सब प्रकार की शारीरिक व मानसिक सिद्धता जिस आश्रम में उत्पन्न की जाती थी उस आश्रम का नाम ब्रह्मचर्याश्रम था, जिसका उल्लेख ऋग्वेद में है व अथर्ववेद में तो इस आश्रम का व तदन्तर्गत कर्मो का सम्पूर्ण वर्णन ही प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्याश्रम में आश्रमवासी गुरु किस प्रकार भावी नागरिक तैयार किया करते थे, विद्या व संस्कारों के सम्बन्ध में उनकी क्या कल्पनाएँ थीं व प्रत्यक्ष जीवनगठन का उनका कार्यक्रम किस प्रकार का था, आदि बातों का क्रमबद्ध व विस्तृत विवेचन मैंने किया है। आज की शिक्षणपद्धति के समस्त दोषों से वैदिकों की शिक्षणपद्धति सर्वथा मुक्त थी। उन्होंने यह अच्छी तरह जान लिया था कि व्यक्ति का विकास ही समाज व राष्ट्र का विकास है। आज भी शिक्षणपद्धति का निर्माण करते समय वैदिक शिक्षणपद्धति के निम्नलिखित तत्व मार्गदर्शक हो सकते हैं: (१) शिक्षण स्वतंत्र हो व राज्ययंत्र उसका सहायक हो। शारदा का मन्दिर कभी भी राजदंड का दास न होने पावे व एक विशिष्ट राज्यतंत्र के प्रचारक बनाने का वह कारखाना न बने। (२) सामुदायिक शिक्षणपद्धति के स्थान पर ऐसी पद्धति हो जिसमें मार्गदर्शक गुरु प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में प्रवेश कर उसे ढाल सके। (३) उत्तम नागरिक तैयार करने के लिए यह आवश्यक है कि पशुत्व का वर्धन करने वाली नागर संस्कृति के विलास से शिक्षण मन्दिरों को दूर रखा जावे। (४) अन्तर्जीवन का विकसन शिक्षण का मुख्य आधार हो, किन्तु उसके साथ ही भौतिक जीवन भी दुर्लक्षित न हो। ये बातें आज भी शिक्षणतज्ञों के लिए मार्गदर्शक हैं। ऋग्वेद सरीखे अति प्राचीनकाल में इस धारणा से राष्ट्र के विकसन का मार्ग नियोजित करने वाले अपने पूर्वजों की प्रतिभा वास्तव में मनोमुग्धकारी है। इस विवेचन के पश्चात् हम इस प्रश्न की ओर मुड़े कि शिक्षणक्षेत्र में स्त्रियों का क्या स्थान था तथा समूचे राष्ट्र जीवन में स्त्रियों की क्या स्थिति थी और हमने देखा कि प्राचीनकाल में पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी वेदविद्या व वैदिक कर्म का अधिकार था व उन्हें अपने विकसन की सम्पूर्ण सन्धि उपलब्ध थी। विवाह संस्था सर्वोच्च प्रकार की थी व प्रारम्भ में स्त्री पुरुषों के निकट आने में कामप्रवृत्ति कारणी-

भूत होने पर भी अन्त में कामगन्धविहीन वत्सलता में ही स्त्रीजीवन की परिणति होवे, ऐसा मातृभावना का आदर्श भारतीय स्त्री के सामने रहा करता था। कुछ स्त्रियां ब्रह्मवादिनी व इसीलिए ब्रह्मचारिणी भी हुआ करती थीं। वाचक्नवी, गार्गी सरीखी विदुषियाँ, मैत्रेयी सरीखी जीवनमुक्त, इन्द्रसेना व विश्पला सरीखी रणाँगण में पराक्रम दर्शानेवाली व परम भक्तिमती एवं रामायणकालीन शबरी के समान परमेश्वर की कृपापात्र बनी हुई स्त्रियों के गौरव निनाद से वेदों के कोने कोने निनादित हो रहे हैं। तात्पर्य यह कि वैदिक राष्ट्र में स्त्री की प्रकृति को ध्यान में रखकर उसके विकास की सम्पूर्ण व्यवस्था की गई थी। आज भी आदर्श भारतीय स्त्रीजीवन की जो कल्पना हमारी आँखों के सामने खड़ी होती है, उसकी परिपूर्णावस्था उस समय के जीवन में हमें दिखाई देती है।

इस प्रकार यह देख लेने पर कि सहस्रावधि वर्षों तक ध्येयवाद के नाते जो नैतिक व चारित्र्यसंपन्न जीवन भारतीय राष्ट्र के समक्ष विद्यमान रहा उसकी सिद्धता वेदकाल में ही हो गई थी, हमारे सामने स्वाभाविक रूप से यह विचार उत्पन्न होता है कि अवश्य ही इन लोगों का तत्त्वज्ञान व आध्यात्मिक जीवन स्थिर स्वरूप का रहा होगा। क्योंकि ऐसा नियम है कि तत्त्वज्ञान व जीवनविषयक ध्येयवाद के सुदृढ़ आधार के बिना नैतिक जीवन कभी स्थिर नहीं रह सकता। वेदों में दृष्टिगोचर होने वाला जीवनादर्श यदि आज भी समाज के अंदर स्थिरपद है तो इसका अर्थ यही है कि उस जीवनादर्श के पीछे विद्यमान तत्त्वज्ञान व जीवनविषयक ध्येयवाद का भाग निर्विवाद रूप से अत्यंत सुदृढ़ होना चाहिए। और उसका स्वरूप कैसा था यह देखना क्रमप्राप्त था। अतः हम तत्त्वज्ञान के विचार की ओर अग्रेसर हुए।

तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार। हमने गीता व तदुत्तरकालीन साहित्य के परिपूर्णावस्था तक पहुँचे हुए क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार का सिंहावलोकन किया तथा उपनिषदों में प्राप्त होने वाले उल्लेखों का परीक्षण कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उपनिषदों के विचारों में तथा तदुत्तरकालीन साहित्य के क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचारों में केवल प्रतिपादन का अंतर है; तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है। तत्पश्चात् वेदसाहित्य में अत्यंत प्राचीन समझे जाने वाले ऋग्वेद के **'गच्छ धर्मणा'**, **'अजो भागः'**, **'इदमस्मि-न्निन्यः सन्नद्धो मनसा चरामि'**, **'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा'** आदि उल्लेखों के आधार पर हमने विस्तारपूर्वक यह देखा कि ऋग्वेद के व तदुत्तरकालीन साहित्य के क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचारों में तत्वतः कोई भेद नहीं है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विचार के 'जो पिंड में सो ब्रह्माण्ड में' इस न्याय के अनुसार हम विश्व के मूलतत्त्व का अथवा क्षराक्षर व पुरुषोत्तम का विचार करने के लिए आगे

बढ़े । जीव, जगत् व जगदीश्वर के विचार को ही तत्त्वज्ञान विचार कहते हैं। भारतीय संस्कृति के गीता व तदनंतर के साहित्य में विद्यमान परिपूर्ण विकसनावस्था के एतद्संबंधी विचारों का प्रथम अवलोकन कर फिर हम उपनिषदों की ओर उन्मुख हुए एवं अनेकविध उल्लेखों के आधार पर हमने यह सिद्ध किया कि क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विचार के समान ही ब्रह्माण्ड विषयक तात्त्विक विचारों में भी उपनिषदों व बाद के साहित्य में कोई भिन्नता नहीं है। फिर हम ऋग्वेद की ओर बढ़े और उसके विभिन्न मंडलों के उल्लेखों व संपूर्ण नासदीय सूक्त को उद्धृत कर हमने यह देखा कि यह विचार भी ऋग्वेद काल में ही परिपूर्णावस्था प्राप्त कर चुका था। लोकमान्य तिलक द्वारा नासदीय सूक्त का विवेचन करते समय उसके संबंध में व्यक्त किये गये उद्गारों का भी हमने यहाँ उल्लेख किया, क्योंकि वे विषय के स्पष्टीकरण में सहायक थे। लोकमान्य तिलक ने अत्यंत स्पष्टरूप से कहा है कि नासदीय सूक्त में ऋषियों ने जो विचार व सिद्धान्त प्रगट किये हैं, उन्हीं को आगे के लोगों ने व्यवस्थित रूप से विवर्तवादादि नवीन नाम देकर व्यक्त किया है। उनसे भिन्न किसी का प्रतिपादन नहीं है और इसके आगे जाना भी किसी के लिए संभव नहीं है। इससे यह ध्यान में आ जायेगा कि भारतीय राष्ट्र व भारतीय संस्कृति का तत्त्वज्ञानात्मक आधार ऋग्वेद काल में ही सिद्ध हो चुका था।

केवल तत्त्वज्ञान ही भारतीय संस्कृति का वैशिष्टय नहीं है; इसका सबसे महत्वपूर्ण अंग है अनुभूतिवाद। कोरे तत्त्वज्ञान को भारत में कोई महत्व नहीं है। इस अनुभूतिवाद के स्वरूप को समझने के लिए हमने अर्वाचीन काल के योगीन्द्र श्री अरविन्द घोष व भगवान श्री रामकृष्ण देव, मध्ययुगीन काल के श्री तुकाराम, रामदास, ज्ञानेश्वर व उनके पूर्व के श्रीमच्छंकराचार्य तथा उनके भी पूर्व के द्रष्टाओं के अनुभूतिवाद संबंधी विचार विस्तारपूर्वक मंडित किये व उपनिषदों के परिच्छेदों का निरीक्षण कर हमने देखा कि किस प्रकार उपनिषदों से लेकर श्री रामकृष्ण परमहंस के काल तक अनुभूतिवाद का एकात्मवीणाझंकार कर्णगोचर होता है। तदनंतर ऋग्वेद के **'अहं मनुरभवम्'** आदि सूक्तों का समालोचन कर हमने देखा कि ऋग्वेद के कोने कोने भी इस अनुभूतिवाद से झंकृत हैं।

इस प्रकार हमने वैदिक राष्ट्र के संपूर्ण अंतरंग को देखा। उससे यह सहज ध्यान में आता है कि वैदिक राष्ट्र की निर्मिति जिन मूल तत्त्वों के आधार पर हुई है वे ही मूल तत्त्व भारतीय राष्ट्र की अस्मिता सिद्ध करते हैं। वे मूल तत्त्व निम्नानुसार हैं:—

(१) **एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**—सर्वत्र एक ही चैतन्यमय तत्त्व विद्यमान है। (Only the unconditioned Absolute One and none else.)

(२) सर्वं खल्विदं ब्रह्म—यह सब कुछ परब्रह्म ही है। (The unconditioned Absolute One manifests in many.)

(३) सब कुछ गतिरूप है। (The One is dynamic.)

(४) सब कुछ ज्ञानमय है। (The One is conscient.)

(५) यह गति नियमबद्ध है। कर्मतत्त्व से वह नियन्त्रित है व पुनर्जन्म का तत्त्व उस कर्मतत्त्व से संलग्न है। (Laws of Cosmic motion, the laws of Karma and Rebirth.)

(६) सप्तलोकात्मक विश्व व घनविरलता के आधार पर उसका विभाजन। (The Cosmos and its seven planes.)

(७) विश्व का परस्पराश्रयत्व। (Interdependence, interpenetration and reciprocity.)

(८) योग व यज्ञ (The Science of Yoga and Sacrifice.)

(९) अनुभूतिवाद (The Science of realisation.)

(१०) साधनानामनेकता।

भारतीय संस्कृति इन दस तत्वों पर अधिष्ठित हुई है। और इस संस्कृति के किसी भी प्रवाह में इन तत्वों की अनुस्यूतता दृग्गोचर हुए बिना नहीं रहती। उपनिषद् व गीता साहित्य में ये तत्व विकसित रूप में विद्यमान हैं यह तो सभी को मान्य है। किन्तु ऋग्वेद का विचार व वैदिक साहित्य का अनुशीलन भी इन मूल तत्वों के आधार के बिना नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति व भारतीय राष्ट्र के नाम से जो कुछ भी है, उसका आरंभ वेदों से है तथा उसकी अस्मिता की ये विशेषताएं वेदकाल में ही सिद्ध हो चुकी हैं। इन्हीं पर भारतीय राष्ट्र के भावजीवन का निर्माण हुआ है व वह आज तक कम अधिक परिमाण में टिका हुआ है। इसी कारण यह राष्ट्र जगत् के समस्त राष्ट्रों की मालिका में अखंड, एकात्म व एकरस भावजीवन की दृष्टि से मृत्युंजय बना हुआ है। उसकी यह मृत्युंजयता अक्षुण्ण रखकर उसकी अमरता यदि टिकाये रखनी है तो नवीन पुनर्रचना के समय उसकी इस अस्मिता की ओर अच्छी तरह ध्यान देना होगा। इस प्राचीनतम व मृत्युंजय वैदिक राष्ट्र का अपनी संतानों से केवल इतना ही कहना है कि "परमेश्वर तुम्हारे पीछे है। तुम स्वयं यदि चाहो तो मृत्यु के मुख में जा सकते हो अन्यथा जगत् की ऐसी शक्ति नहीं जो तुम्हें मार सके। जिस जीवनरस से अनुप्राणित होकर हमने समस्त विश्व को आर्य बनाने की उत्तुंग आकांक्षा मन में संजोई व प्रत्यक्ष में अवतरित की, उसी जीवन रस से तुम्हारा भी शरीर पावन हुआ है। याद रखो, जो परकीय लोग अट्टहासपूर्वक यह

कहते हैं कि तुम्हारे पूर्वज हम व आज के तुम एक दूसरे से भिन्न हैं वे धूर्त व वंचक हैं। गत डेढ़ सौ वर्षों में जिस आत्मविस्मृति रूप अधर्म का प्रादुर्भाव हुआ है उसे नष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जाओ। जो धैर्य, पावित्र्य, दिव्यता व तेज हममें विद्यमान थे वे ही तुम में भी आत्मस्मरण के द्वारा हड़बड़ा कर जागृत होंगे व तुम भी हमारे समान गर्जना कर उठोगे—

अपाम सोमं अमृता अभूम अगन्म ज्योति रविदाम देवान् ।
किं नूनं अस्मान् कृणवत् अरातिः किमु धूर्तिर् अमृत मर्त्यस्य ॥

—ऋग्वेद ८.४८.३

ते मा रक्षन्तु विस्रसश्चरित्रादुत मा स्रावाद्यवयन्तु इन्दवः ।
अग्निं न मा मथित सं दिदीपः प्रश्चक्षय कृणुहि वस्यसो नः ॥

—ऋग्वेद ८.४८.५, ६

(हमने दिव्य रस का प्राशन किया है। हम अमर हो गये हैं। हमने दिव्य प्रकाश प्राप्त किया है। हमने देवों को पहचान लिया है। अब धर्म-विमुख दुष्ट हमारा कर ही क्या सकते हैं? हे अमरदेव, मनुष्य की धूर्तता भला हमारा क्या बिगाड़ सकेगी? परमेश्वर हमारा रक्षण करे, वह हमें चारित्र्य से कभी भ्रष्ट न होने दे व रोगों से सदा दूर रखे। हे परमेश्वर, घिसकर प्रदीप्त की हुई अग्नि के समान हमें उज्ज्वल बना। हमें उत्तम दृष्टि दे व हम में विजिगीषु उत्साह सदैव बनाये रख।)

अस्तु। मेरी यह संकलित व्याख्यान माला मैं अब समाप्त कर रहा हूँ। मेरा विषय अभी आधा बाकी है। वैदिक राष्ट्रदर्शन का पूर्वार्ध यहाँ समाप्त हुआ। उसमें हमने राष्ट्र का अंतरंग भावजीवन देखा। किंतु इस देदीप्यमान भावजीवन से युक्त यह समाज अपना प्रत्यक्ष जीवन कैसे व्यतीत करता था, उसका राज्य और उसकी राज्य घटना किस ढंग की थी, उसका अर्थ व्यवहार किस प्रकार का था व भौतिक जीवन की समस्याएं हल करने का उसका तरीका किस प्रकार का था, वैसे ही समाज के लोगों का व्यवहार, सभ्याचार वेषभूषा, अलंकार आदि कैसे थे इस संबंध में हमारी उत्कण्ठा स्वाभाविक रूप से जागृत हुई होगी। इस व्याख्यानमाला के उत्तरार्ध में इन विषयों के विश्लेषण का आश्वासन देकर मैं इसे अब यहीं समाप्त करता हूँ।

पूना के वाक्पीठ पर दी जाने वाली मेरी यह चौथी व्याख्यानमाला है। इस वाक्पीठ का अधिकार सारे भारत में अग्रगण्य है। इस कारण इस वाक्पीठ पर आना जहाँ सम्मान की बात है वहाँ इसके साथ दायित्व भी आ खड़ा होता है। गत तीन व्याख्यानमालायें लोगों के हृदयों का आकर्षण बनी रहीं।

रामायण, महाभारत व श्रीकृष्ण चरित्र के संबंध में वे व्याख्यानमालाएं थीं। यह व्याख्यानमाला अपरिचित, कठिन व सामन्यत: रूक्ष विषय से संबंधित थी। किन्तु सदा के समान आपने इस ज्ञानसत्र के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित किया व उसे यशस्वी बनाने के मनोभाव से उसमें सहयोग दिया, इस कारण मैं आप लोगों का अतिशय कृतज्ञ हूँ। वेद सरीखे कठिन विषय से संबंधित इस ज्ञानसत्र में प्रतिदिन सहस्रावधि लोगों का समुदाय उपस्थित रहता है, यह दृश्य अन्यों को आश्चर्यचकित करने वाला तथा पुण्यपत्तन की सांस्कृतिक श्रेष्ठता व्यक्त करने वाला है। मुझपर पितृतुल्य प्रेम करने वाले प० पू० तीर्थस्वरूप तात्यासाहेब करंदीकर जी ने गत व्याख्यानमालाओं के समान ही इस व्याख्यानमाला में भी उपस्थित होकर मुझ पर जो अनुग्रह किया है उससे उऋण होना मेरे लिए संभव नहीं है। इस ज्ञानसत्र के संयोजक व मेरे अंतरंग मित्र श्री शं० रा० उपाख्य मामासाहेब दाते का मैं आभार मानूं तो उन्हें रुचेगा नहीं। इस कारण उन्होंने बार बार जो सौहार्द दिखाया है वह **"मदंगे जीर्णतां यातु"** इतना ही कहूँगा। दैनिक काल व दैनिक भारत ने इस महत्वपूर्ण व्याख्यानमाला को भरपूर प्रसिद्धि देकर उसका सार महाराष्ट्र में सुदूर तक पहुँचाया है उसके लिए मैं उनका जितना धन्यवाद मानूँ उतना थोड़ा ही है। पुनश्च एकबार मैं अपने सहस्रावधि श्रोतृवृन्द को धन्यवाद देता हूँ।

वेद सरीखे सर्वश्रेष्ठ विषय का अपने अध्ययन के अनुरूप जो कुछ भी मैंने विवेचन किया है उसे आप सहृदयता से ग्रहण करेंगे ऐसा विश्वास है। अमुक विषय के संबंध में मेरा कथन ही अंतिम है ऐसा दावा मैं किसी विषय के संबंध में नहीं कर सकता। **"नभः पतंत्यात्मसमं पतत्रिण:"** की कहावत प्रसिद्ध ही है। महर्षि पटवर्धन व लोकमान्य सरीखे सुपर्णों के सुवर्ण पंख भी जिस विषय की ओर जाकर थक जाते हैं उस विषय के संबंध में मुझ सरीखे व्यक्ति की भला क्या बिसात ? श्री ज्ञानदेव के शब्दों में मैं आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि **"तरी न्यून ते पुरते। अधिक तें सरते। करोनि घ्यावे हें तुमते। विनवतु असे ॥ जैसा स्वभावो मायबापांचा। अपत्य बोले जरी बोबडी वाचा। तरी अधिक तयाचा। संतोषु आथी ॥"**

(इसमें कुछ कम हो तो पूरा कर लीजिए और यदि कुछ अनावश्यक हो तो छोड़ दीजिए। माता पिता जिस प्रकार अपने बच्चे की तोतली अशुद्ध भाषा सुनकर भी संतोष मानते हैं, उसी प्रकार आप भी मुझ पर अनुग्रह करेंगे इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।)

अंत में श्री ज्ञानदेव के तेजस्वी शब्दों में निम्नलिखित प्रार्थना कर मैं आपसे आज्ञा लेता हूँ।

आता विश्वात्मकें देवे । येणे वाग्यज्ञे तोषावे ।
तोषोनियां मज द्यावे । पसायदान हें ।।
दुरितांचे तिमिर जावो । विश्वस्वधर्म सूर्ये पाहो ।
जो जें वांछील तो तें लाहो । प्राणिजात ।
चन्द्रमे जें अलांछन । मार्तंड जे तापहीन ।
ते सर्वाही सदा सज्जन । सोयरे हो तूं ।।
किंबहुना सर्व सुखी । पूर्ण होऊनि तिही लोकीं ।
भजि जो आदि पुरुखी । अखंडित ।।

(हे परमेश्वर, इस विश्वरूप वाग्यज्ञ से प्रसन्न होकर मुझे निम्न प्रकार वरदान दो । पापों का अंधकार नष्ट होवे व विश्व स्वधर्म का सूर्य देखे तथा प्राणिमात्र में जिसकी जो इच्छा हो उसे वह प्राप्त कर सके । जो कलंकहीन चंद्रमा तथा ताप न देने वाले सूरज हैं ऐसे सज्जन सदा हमारे संबंधी बने रहें । तात्पर्य, समस्त त्रैलोक्य सुखी होकर आनंद से परिपूर्ण बना रहे ।)

———

शब्दानुक्रम

सन्दर्भ ग्रंथ

ऋग्वेद
अथर्ववेद
सामवेद
यजुर्वेद
शतपथ ब्राह्मण
तैत्तिरीय ब्राह्मण
ऐतरेय ब्राह्मण
गोपथ ब्राह्मण
चरणव्यूह—शौनक ऋषि
विकृतवल्ली—ब्याडी ऋषि
ईशावास्य उपनिषद्
बृहदारण्यकोपनिषद्
छान्दोग्योपनिषद्
मुंडकोपनिषद्
काठकोपनिषद्
ऐतरेयोपनिषद्
तैत्तिरीयोपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद्
कौशीतकी उपनिषद्
मैत्रायणी उपनिषद्
प्रश्नोपनिषद्
केनोपनिषद्
कठोपनिषद्
श्वेताश्वतरोपनिषद्
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
आपस्तम्ब धर्मसूत्र
बौधायन धर्मसूत्र
सांख्यायन गृह्यसूत्र
आश्वलायन गृह्यसूत्र
वाराह गृह्यसूत्र
बौधायन गृह्यसूत्र
पारस्कर गृह्यसूत्र
भारद्वाज गृह्यसूत्र
जैमिनी गृह्यसूत्र
काठक संहिता
व्यासकृत महाभारत
वाल्मीकीय रामायण
श्रीमद् भागवत पुराण
कूर्म पुराण
विष्णु पुराण
वायु पुराण
शिव पुराण
हरिवंश पुराण
देवी भागवत
मनु स्मृति
हारीत स्मृति
कौटिल्य अर्थशास्त्र
श्रीमद् भगवद्गीता
पातञ्जल व्याकरण महाभाष्यम्
पाणिनीय अष्टाध्यायी
जैमिनीय मीमांसादर्शन
कपिलमुनि कृत सांख्यदर्शन
चार्वाक दर्शन
सर्वदर्शन संग्रह—माधवाचार्य
निरुक्त—यास्क
शारीरिक भाष्य—आद्य शंकराचार्य
शतश्लोकी—आद्य शंकराचार्य
आत्मबोध—आद्य शंकराचार्य

स्मृति चन्द्रिका
स्मृति कौस्तुभ
रघुवंश—कालिदास
उत्तररामचरित—भवभूति
ज्ञानेश्वरी गीता—श्री ज्ञानेश्वर
भावार्थ दीपिका—श्री ज्ञानेश्वर
अनुभवामृत—श्री ज्ञानेश्वर
गुरुचरित्र—नृसिह् सरस्वती
सत्यार्थ प्रकाश—स्वामी दयानन्द
महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश—एस० वी० केतकर
भारतीय ज्योतिष शास्त्र—रा० ब० दीक्षित
राधामाधव विलास चम्पू—वि० का० राजवाड़े
कांगरिया—क्रोपाटकिन
महादेव का मूल स्वरूप—कृष्णशास्त्री
वैदिक संस्कृतिची पुनर्घटना (मराठी) —अप्रबुद्ध पावगी
भारत में अंग्रेजी राज—पं० सुन्दर लाल
श्रुतिबोध—रामचन्द्र विनायक पटवर्धन
श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग
विवेकानन्द चरित—सत्येन्द्रनाथ मजूमदार
Arctic Home in the Vedas —B. G. Tilak
Orion—B. G. Tilak
Gita Rahasya—B. G. Tilak
Paradise Found—Dr. Warren
We Europeons—Max Muller
Mohenjodaro and Indus Valley Civilisation—Sir John Marshall
Religion and Philosophy of the Vedas—Keith
Encyclopaedia Britannica
Rigvedic India—Avinash Chandra Das
Geology of India—D. R. Wadia
Shakti and Shakta—Justice Woodroffe
Mysterious Universe—Sir James Jeans
Message of Rigveda—Aprabuddha Pavagi
History of Education in India
World as will and Representation—Shopenhower
A Constructive Survey of Upanishdic Philosophy —R. D. Ranade
Uttarapara Speech—Sri Aurobindo
Complete Works of Swami Vivekananda
India From Primitive Communism to Slavery—S. A. Dange
Origin of Marriage—S. A. Dange
Der Rigveda—A. Ludwig
Mansions of Philosophy—Will Durand
Indian Historical Quarterly Vol. 4. No.4
Modern Review : August 1931
Brahmarshi's Gospel—Annasaheb Patwardhan

महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास

- सन् १९१८ में नागपुर में जन्म।
- केवल १८ वर्ष की अल्पायु में ही काव्यतीर्थ, वेदान्ततीर्थ व साहित्याचार्य की उपाधियों से विभूषित।
- स्वातन्त्र्य संघर्ष में १९३९ (हैदराबाद), १९४१ (भागलपुर) व १९४९ (रायपुर) में जेलयात्रा।
- साप्ताहिक 'आदेश' व साप्ताहिक 'युगान्तर' के सह सम्पादक तथा 'हिन्दू हृदय' त्रैमासिक के सम्पादक रहे।
- विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के लिए दो हजार से अधिक ग्रन्थों की समालोचना की।
- पूना में प्रतिवर्ष १५ दिन से लेकर २८ दिन व्यापी व्याख्यान मालायें।
- १९५७ में कामकोटि पीठ के शंकराचार्य श्री चन्द्रशेखर सरस्वती से मन्त्रदीक्षा।
- १९६८ में पार्थिव शरीर का त्याग।
- अंग्रेजी कृतियां—

  Glimpses of the Vedic Nation
  Armed Struggle for Freedom
- मराठी कृतियां—

  वेदांतील राष्ट्रदर्शन
  भगवान श्रीकृष्ण
  पुण्यश्लोक छत्रपति शिवाजी
  सत्तावन ते सुभाष
  आर्य चाणक्य
  आद्य शंकराचार्य
  स्वातन्त्र्यवीर सावरकर
  स्वामी विवेकानन्द
  समर्थ रामदास स्वामी
  महारुद्र देवता का स्वरूप
  गीत भारत

इस प्राचीनतम व मृत्युञ्जय वैदिक राष्ट्र का अपनी संतानों से केवल इतना ही कहना है कि—

परमेश्वर तुम्हारे पीछे है। तुम स्वयं यदि चाहो तो मृत्यु के मुख में जा सकते हो, अन्यथा जगत् की ऐसी कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें मार सके। जिस जीवनरस से अनुप्राणित हो कर हमने समस्त विश्व को आर्य बनाने की उत्तुंग आकांक्षा मन में संजोई व प्रत्यक्ष में अवतरित की, उसी जीवनरस से तुम्हारा भी शरीर पावन हुआ है।

याद रखो, जो परकीय लोग अट्टहासपूर्वक यह कहते हैं कि तुम्हारे पूर्वज हम वैदिक लोग व आज के तुम एक दूसरे से भिन्न हैं, वे धूर्त व वंचक हैं। गत डेढ़ सौ वर्षों में जिस आत्म-विस्मृति रूप अधर्म का प्रादुर्भाव हुआ है, उसे नष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जाओ। जो धैर्य, पावित्र्य, दिव्यता व तेज हममें विद्यमान थे वे ही तुम में भी आत्मस्मृति के द्वारा हड़बड़ा कर जागृत होंगे व तुम भी हमारे समान गर्जना कर उठोगे—

"हमने दिव्यरस का प्राशन किया है। हम अमर हो गये हैं। हमने दिव्य प्रकाश प्राप्त किया है। हमने देवों को पहचान लिया है। अब धर्म-विमुख दुष्ट हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं?"

—इसी ग्रन्थ में से

सुरुचि साहित्य
केशव कुंज, झण्डेवाला, नई दिल्ली-११००५५